सम्पादक

प्रेमचन्द

प्रकाशक

सरस्वती प्रेस

बनारस

द्वितीय संस्करण

अगस्त, १९४२

मूल्य

बारह आना

मुद्रक—श्रीपतराय, सरस्वती प्रेस, बनारस कैण्ट।

सूची

भूमिका

आधुनिक साहित्य में गद्य की प्रधानता है और उस गद्य में भी 'आख्यान' की। आख्यान वा कथानक-प्रधान साहित्य में भी, जितना बोल-बाला कहानी का है उतना और किसी का नहीं। आधुनिक युग के मनुष्य को इतना अवकाश नहीं कि वह लम्बे-लम्बे उपन्यास पढ़ सके। अतः पाठकों की बहुसंख्या को कहानी की माँग रहती है। वर्तमान युग उपन्यासों और कहानियों का युग है।

कहानी की परिभाषा—कहानी है क्या? इसकी परिभाषा क्या होगी? परिभाषा उतनी आसान नहीं। साधारण रूप से काम चलाने के लिए मिस्टर फोस्टर की परिभाषा कुछ काम दे सकती है—आप कहते हैं—It is a series of crises, relative to other and bringing about a climax. अर्थात् कहानी परस्पर सम्बद्ध महत्वपूर्ण घटनाओं का क्रम है जो किसी परिणाम पर पहुँचाती है। साहित्य मानव-जीवन का चित्र माना गया है, तो कहानी को हम मानव-जीवन की एक झलक कह सकते हैं।

वर्तमान युग में कहानीकला ने काफ़ी उन्नति कर ली है, और हम नहीं कह सकते अभी उसकी चरम सीमा कहाँ होगी। पुराने ज़माने की आख्यायिका और आजकल की 'गल्प' वा कहानी में बहुत अन्तर हो गया है। मिस्टर ब्रेण्डर मैथ्यु ने Philosophy Of Short Story पर लिखते समय एक स्थान पर लिखा है—

"A true short story is something other and something more than mere short story, which is short. A true short story differs from the novel chiefly in its essentials—unity of expression. In a far more exact and precise use of words a short story has unity which a novel cannot have it......A short story deals with a single character or a series of emotions called forth by a single situation. The short story must be an organic whole."

कहानी की सफलता—आधुनिक कहानी में सर्वाङ्गपूर्णता और चुस्ती बहुत आवश्यक वस्तु है। मिस्टर एडगर एलन पो—इसे Totality कहते हैं। कहानी ऐसी होनी चाहिए जिसे पढ़ने के पश्चात् पाठकों को किसी कमी का अनुभव न हो। एक स्थान पर मिस्टर (Poe) अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं—

"In the whole composition there should be no word

written of which the tendency, direct or indirect is not to the one pre-established design. The idea of the tale is presented unblemished, because undisturbed, is an end unattainable by the novel undue brevity is just as exceptionable here, as in a poem, but undue length is yet more to be avoided."

कहानी और उपन्यास—कहानी और उपन्यास में केवल 'विस्तार' ही का अन्तर नहीं है, वरन् दोनों दो भिन्न वस्तुएँ हैं। दोनों के उद्देश्य और प्रकृति में महान अन्तर है। साधारणतः कथानक-साहित्य के तीन भेद उपलब्ध हैं। उपन्यास, लघु उपन्यास और कहानी। उपन्यास का युग पाश्चात्य देशों में जा रहा है। मिस्टर किप्लिंग ने इसी हेतु कहा था—"The three volume novel is extinct."

—अतः लघु उपन्यासों का प्रचार बढ़ रहा है। दोनों में केवल 'आकार' का अन्तर नहीं है। लघु उपन्यास में कला का अधिक परिपक्व रूप मिलता है। एक आलोचक लिखता है—Modern tendency is to write short novels. Now the Novelette is more artistic, condensed with extensive narration and less extensive view of men and matters.

कहानी का विस्तार—लघु उपन्यासों की अपेक्षा कहानी की कला और परिपक्व है। उसमें और भी चुस्ती और संक्षेप में सर्वाङ्गपूर्णता होनी चाहिए। आकार वा विस्तार की दृष्टि से कहानियों के बारे में कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। परन्तु कहानी का विस्तार उतना ही उचित समझा जाता है कि उसे एक बैठक में समाप्त किया जा सके। पाश्चात्य आलोचकों ने 'संक्षेप' पर बहुत ज़ोर नहीं दिया है जितना कि 'एक दौर' पर। यदि पाठक बिना सम्पूर्ण कहानी पढ़े उठता नहीं और उसकी बैठक मन उबानेवाली न हुई तो साधारणतः आध घण्टे तक की कहानी अनुचित न मानी जायगी। परन्तु यह 'समय' भी अपने-अपने देश के अनुसार होगा। पाश्चात्य देशों में जहाँ समय बहुत महँगी चीज़ है वहाँ पन्द्रह मिनट से अधिक समय लेनेवाली कहानियाँ बहुत लम्बी समझी जाती हैं।

कहानी की सीमा—कहानी की सफलता 'कहने' पर अधिक निर्भर है। यदि लेखक कहानी के आरम्भ से अन्त तक पाठकों को अपने साथ रख सका और उसने कहानी के उद्देश्य और परिणाम में एकता स्थापित कर दी तो उसकी कहानी साहित्यिक दृष्टि से भी अच्छी कही जायगी। उपन्यास और कहानी के तत्व प्राय: समान ही हैं पर उपन्यासों की अपेक्षा छोटी कहानी

लिखना अधिक कठिन है। उसमें अधिक कुशलता की ज़रूरत है। उपन्यास में मैदान विस्तृत है। कहानी का दायरा नपातुला है।

कहानी के तत्व—कहानी में 'वस्तु' वा प्लाट होना परमावश्यक है। बिना प्लाट के कहानी नहीं खड़ी होती। इस हेतु 'पात्र' भी आवश्यक है, जिसके आवरणों से प्लाट आगे बढ़ता है। इन दोनों—प्लाट और पात्र के अतिरिक्त कथोपकथन, वातावरण, शैली, उद्योग आदि भी कहानी के ज़रूरी अंग समझे जाते हैं। इन पर ध्यान रखने से कहानी अच्छी उतरती है।

कहानी का आरम्भ—कहानी का अध्ययन करते समय तथा उसकी आलोचनात्मक परीक्षा करते समय हमें सर्वप्रथम इस बात पर ध्यान रखना होता है कि कहानी का आरम्भ कैसा हुआ है। क्या प्रथम वाक्य से ही हमारा ध्यान कहानी के मुख्य अंग की ओर आकर्षित होता है? आधुनिक युग में समय का मूल्य अधिक है, अवकाश का अभाव हर जगह है। अतः पाठक सीधे कहानी पर आना चाहता है। यदि लेखक आरम्भ में व्यर्थ भूमिका बाँधता है तो यह कहानी का दोष समझा जायगा। हिन्दी कहानियों में अभी इस पर अधिक ज़ोर नहीं दिया जाता।

कथावस्तु—कहानी की कथावस्तु वा प्लाट ऐसा होना चाहिए जिसका विकास कहानी के आरम्भ से होकर अन्त तक हो और वह ऐसा स्वाभाविक हो जो हमें सन्तुष्ट कर सके। कहानी की कथावस्तु में सम्भव और असम्भव का प्रश्न उतना नहीं, जितना स्वाभाविक और अस्वाभाविक का है। कथानक का विकास ऐसा होना चाहिए कि पढ़नेवाले को वह अस्वाभाविक न प्रतीत हो।

कथोपकथन—कथोपकथन की आवश्यकता कहानियों में सजीवता और यथार्थता लाने के लिए पड़ती है। जब हम दो पात्रों को बातचीत करते सुनते हैं, हमें उनकी बातों में अधिक आनन्द मिलता है। उनकी बातचीत सुनकर हमारे मन में उनके चरित्र आदि के प्रति एक कल्पना उत्पन्न होती है और हम उन पात्रों में अधिक दिलचस्पी लेने लगते हैं। यदि कहानी में कथोपकथन कम हैं वा बिलकुल नहीं हैं तो उसका चमत्कार नष्ट हो जाता है। कथोपकथन कहानी की जान है। इससे पात्र और प्लाट दोनों का सुन्दर विकास होता है। परन्तु कथोपकथन स्वाभाविक होना चाहिए; जिस प्रकार बातचीत करते समय केवल बातचीत सुनकर एक तीसरा व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की बात समझता है; उनके लहजे, वाक्य-विन्यास आदि से उनके चरित्र की कल्पना कर लेता है; उसी प्रकार कहानी में भी कथोपकथन इतना स्वाभाविक होना चाहिए जिससे पात्रो के व्यक्तित्व का विकास न रुके। निर्जीव कथोपकथन वे होते हैं जिनमें दो आदमी बातचीत करते हुए दिखाये जाते हैं—दो व्यक्ति नहीं, सिर्फ दो 'मुँह' जो केवल बोलते हैं।

वातावरण—देश, काल, परिस्थिति—को वातावरण कहते हैं। यह हमारे कथानक का आरंभ होता है, अंत होता है—तो किसी वातावरण की निर्दोषता भी आवश्यक है। यदि इसमें कहीं कोई त्रुटि रह गयी तो सारा व्यापार उपहास्य प्रतीत होने लगेगा। जिस समय का, जिस स्थान, वा जिस परिस्थिति का उल्लेख कहानी में हो—उसे सच्चा, स्वाभाविक रहना चाहिए। वातावरण कहानी में इस प्रकार है जैसे दावत में पकवानों के रखने के बर्तन और भोजनशाला। हमारा ध्यान खाद्य-पदार्थों पर अधिक होगा—बर्तनों पर कम। परन्तु खाद्य-पदार्थों के अनुरूप ही पात्र भी होना चाहिए, भोजन का स्थान भी होना चाहिए। हम दावत के वक्त भोजनों से अपना ध्यान हटाकर भोजनशाला वा बर्तनों पर कभी न जाने देंगे। हाँ, अज्ञात रूप से उनका प्रभाव हमारे मन पर पड़ेगा और हम बड़ी प्रसन्नता से भोजन करेंगे। इसी प्रकार कहानी में 'वातावरण' प्रधान लक्ष्य न होना चाहिए। प्राचीन हिन्दी-काव्य में 'प्रकृति' उद्दीपन के रूप में आती थी। कहानी में 'वातावरण' का उपयोग इस प्रकार होना चाहिए कि कथावस्तु के स्वाभाविक विकास में बाधा न पड़े, पर साथ ही साथ उसका वर्णन आवश्यकता से अधिक न हो कि हम मुख्य कथा की ओर से ध्यान हटाकर 'वातावरण' की ओर आकृष्ट हों। कहानी में लम्बे-लम्बे प्रकृतिवर्णन, वा सविस्तार किसी स्थान का वर्णन अनावश्यक है। केवल 'विषदता' लेखक का उद्देश्य न होना चाहिए। यदि ऐसा होगा तो कहानी की सुन्दरता नष्ट हो जायगी।

पात्र—कहानी में पात्र उतना ही आवश्यक है जितना उपन्यास में। परन्तु उपन्यास की तरह कहानी में बहुत-से पात्रों के लिए स्थान नहीं, अवसर भी नहीं। कहानी में अधिक पात्रों का होना कहानी की चुस्ती बिगाड़ देता है। हमारी संवेदना उतनी ओर बँट जाती है कि हम कहानी का मज़ा नहीं पाते। कहानी में दो-तीन से अधिक पात्रों का होना ठीक नहीं। मुख्य पात्र के चरित्र का आरम्भ—कहानी के आरम्भ में हो जाना चाहिए। हमारी संवेदना का प्रथम पात्र कहानी का नायक या प्रधान पात्र होना चाहिए, जिसमें हम बराबर उसके साथ अन्त तक रहें। जब कभी कहानी में 'प्रधान पात्र' बहुत बाद में आता है उस समय कहानी पढ़नेवालों को आरम्भ में आये हुए पात्र से अपनी सहानुभूति हटाकर दूसरे के साथ करनी पड़ती है। उससे कहानी का प्रभाव नष्ट हो जाता है। कहानी में मुख्य पात्र आरम्भ से अन्त तक रहना चाहिए और उसका चरित्र निरन्तर प्रकाश में आना चाहिए।

चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण के स्वाभाविक विकास के लिए कहानी में अवसर नहीं। उस हेतु तो उपन्यास ही उचित स्थान है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कहानी में पात्रों का चरित्र-चित्रण हो ही नहीं। नहीं, उपन्यास

में जहाँ हम एक पात्र के चरित्र का क्रम-विकास देखते हैं—वहाँ कहानी में हम उसके चरित्र की एक झलक देखते हैं। केवल एक अंश को देखकर ही हम पात्र के संपूर्ण चरित्र का अनुमान करते हैं—परन्तु लेखक की कल्पना में वह पात्र तथा उसका पूरा चरित्र जैसे वर्तमान रहता है—हमें वह कहानी में केवल एक झलक दिखलाता है—उसी झलक से हम संपूर्ण का अनुमान करते हैं। परन्तु वह झलक एक संपूर्ण और स्वाभाविक चरित्र का अंग होती है। कहानी के पात्रों के चरित्र के विकास के लिए उसमें पूरा अवसर नहीं है, पर उसके विकास की स्वाभाविक गति का परिचय किसी न किसी प्रकार पाठकों को मिलना चाहिए, अन्यथा वह पात्र असम्भव होगा और उसका चरित्र अस्वाभाविक होगा। मानव-प्रकृति तथा मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को न सन्तुष्ट करनेवाले चरित्र-चित्रण कहानी को असफल बनाते हैं।

शैली—हम यह कह आये हैं कि कहानी का मज़ा कहने में है और कहने का तरीक़ा—हर आदमी का जुदा-जुदा होता है। कला की सीमा नहीं और न कलाकार के लिए कोई निश्चित मार्ग निर्धारित किया जा सकता है। यह बतलाना बहुत कठिन है कि कहानी लिखी जाय तो ऐसे-ऐसे ही लिखी जाय। प्रत्येक लेखक की अपनी शैली होती है। परन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से देखना यह है कि उक्त लेखक की शैली का प्रभाव हम पर क्या पड़ता है—उसकी शैली कहानी को कहाँ तक सफल बनाती है। कहानी के तीन मुख्य अंग हैं—आरंभ, प्रसार और अंत। तीनों में सामंजस्य होना चाहिए। लिखते समय लेखक की भाषा, वाक्यविन्यास, उक्तियाँ आदि, सभी चमत्कार लाती हैं। कहानी की सफलता बहुत कुछ इन पर भी निर्भर है।

लेखन-प्रणाली—कहानी लिखने के अभी तक बहुत से तरीक़े देखे गये हैं, उनमें कुछ मुख्य ये हैं—

(१) **वर्णनात्मक प्रणाली वा ऐतिहासिक प्रणाली**—इसमें लेखक एक तीसरा व्यक्ति होकर लिखता है। मानों वह इतिहास लिख रहा हो।

(२) **आत्मचरित्र प्रणाली**—इसमें मानों लेखक स्वयं अपनी कथा कह रहा हो।

(३) **पत्रप्रणाली**—कुछ पत्रों द्वारा समस्त घटना और कथा कही जाती है।

(४) **डायरी प्रणाली**—इसमें डायरी के पृष्ठों के बहाने सारी घटना वा कथा पाठकों पर प्रकट होती है।

कुछ लोग एक पाँचवी प्रणाली का उल्लेख भी करते हैं—वह **कथोपकथन प्रणाली** है। परन्तु केवल बातचीत में कहानी अच्छी न होगी। इस तरह की कहानी बहुत ही कम देखने में आती है। प्रचलित प्रणाली में ऐतिहासिक

और आत्म-चरित्र प्रणाली ही दो हैं। ये ही अधिकतर काम में आती हैं। कथोपकथन-प्रणाली का उपयोग आजकल रेडियो में काम आवेगा। इसमें इसी प्रणाली द्वारा कहानी कहना संभव है। परन्तु ऐसी दशा में भी यह कहानी न होकर 'ड्रामा' अधिक होगा। कहानी में कथोपकथन प्रधान वस्तु नहीं वरन् कथोपकथन की आवश्यकता इसमें Dramatic touch देने के लिए होती है। इस प्रकार संक्षेप में और स्वाभाविक रूप में कहानी चलती है। कथोपकथन से कहानी में सजीवता आती है—यथार्थता का बोध होता है।

शीर्षक—कहानी का शीर्षक किसी उद्देश्य का सूचक होना चाहिए। शीर्षक की उपयुक्तता पर कहानी की सफलता बहुत कुछ निर्भर है। शीर्षक है क्या? जिस दृष्टिकोण से लेखक कहानी की रचना करता है, उसी मार्ग का द्वार मानो उस कहानी का शीर्षक है। यदि लेखक शीर्षक ठीक नहीं देता तो वह मानों अपनी कहानी की भूलभुलैया का ठीक द्वार पाठकों को नहीं बतलाता। उसका फल यह होता है कि पाठक एक दूसरे मार्ग से प्रवेश कर इष्ट स्थान को बिना देखे ही लौट आते हैं और कहानी की विशेषता वे देख नहीं पाते। इसलिए शीर्षक ऐसा होना चाहिए जो कहानी की सांकेतिक कुञ्जी हो। इसी हेतु एक पाश्चात्य लेखक Donald Maconochie लिखता है—"Keep the title in its proper proportion—to the nature and interest of the story."

उद्देश्य—कहानी कहने और सुनने की वस्तु है। हम वही बात कहना और सुनना पसन्द करते हैं जो हमारे जीवन के निकट हो, जिसमें हमारी सहानुभूति हो। जिसका हमारे जीवन से किसी प्रकार भी सम्पर्क नहीं उसे हम पढ़ना वा सुनना व्यर्थ समझेंगे। प्राचीन समय में ऐसी बहुत-सी कहानियाँ लिखी गयीं जिनका उद्देश्य जीवन की किसी न किसी समस्या पर प्रकाश डालना था। धीरे-धीरे कहानियों में 'शिक्षाप्रद' परिणाम रखने की परिपाटी चल निकली। आधुनिक युग में ज्ञान-विकास अधिक जाग्रत है। हम किसी वस्तु को जानना चाहते हैं—क्यों? केवल जानने के लिए। अतः अब इस युग में कहानी पर यह प्रतिबन्ध लगाना व्यर्थ है। कहानी की परीक्षा इस दृष्टि से होगी कि उसने हमारा मनोरंजन किया वा नहीं। उसे पढ़ते समय हम अपने को भूल सके वा नहीं। यदि हाँ, तो कहानी की सफलता निर्विवाद है।

आधुनिक युग का आलोचक कहता है—कहानी-लेखक का कर्तव्य उपदेशक होना नहीं। उसका फ़र्ज़ यह है कि कहानी अधिक-से-अधिक लोगों को प्रसन्न करे। कहानी में शिक्षाप्रद परिणाम न हो इसका अर्थ यह नहीं कि कहानी उद्देश्यहीन होगी। लेखक जब किसी कहानी की सृष्टि करता है तो वह

अपने प्लाट, पात्र आदि का नियन्त्रण अपने इच्छानुसार करता है। उसकी अपनी इच्छा में उसकी आत्मा का हाथ रहता है—यही उसका अपनापन है—उसकी मौलिकता है। उसी अपनेपन के कारण उसका अपना निजी दृष्टिकोण होता है। यही दृष्टिकोण उस कहानी का उद्देश्य निर्धारित करता है। कभी-कभी कहानी-लेखक केवल घटनाओं के क्रम, पात्रों के आचरण और कथोपकथन के बहाने अपना उद्देश्य प्रकट करता है, कभी-कभी वह अन्त में स्पष्ट कह देता है। स्पष्ट कहने से अधिक अच्छा न कहकर केवल संकेत मात्र देना वा ऐसी परिस्थिति की सृष्टि करना जिसमें एक केवल वही परिणाम निकले जिसे लेखक चाहता है—ऐसा करना अधिक कलात्मक होता है।

कहानियों के भेद—लेखक के अपने लक्ष्य के अनुसार तथा प्लाट के अनुसार कहानी के अनेक भेद होते हैं। पहले तो सुखान्त और दुःखान्त मुख्य भेद होंगे। जिस कहानी के अन्त में किसी उद्देश्य की प्राप्ति होती है वह सुखान्त होगी। इसके विपरीत यदि हुआ तो दुःखान्त। दुःखान्त का यह अर्थ नहीं कि अन्त में मृत्यु हुई वा कोई दुःख आ पड़ा, वरन् यह कि 'फल' की प्राप्ति नहीं हुई। किसी समय जब अधिकतर कहानियाँ 'प्रेमगाथा' के रूप में होती थीं उस समय 'संयोगान्त' और 'वियोगान्त' रूप कहा जाता था। इस युग में कहानियों की कथावस्तु केवल 'प्रेम' नहीं वरन् जीवन की समस्त समस्याएँ हैं। अतः अब सुखान्त या दुःखान्त ही उपयुक्त अन्त होंगे।

कुछ कहानियों का उद्देश्य केवल पाठकों को आदि से अन्त तक लोम-हर्षक घटनाओं में उलझाये रखना और एक के बाद दूसरा रहस्योद्घाटन करते रहना है। ऐसी कहानियों को जासूसी कहानियाँ कहते हैं। हिन्दी में पहले ऐसी कहानियाँ बहुत लिखी जाती थीं। कुछ कहानियों की कथावस्तु 'प्रेम' होता है, जिसमें एक नायक किसी नायिका पर मोहित होता है, उसे प्राप्त करता है वा नहीं प्राप्त करता। ऐसी कहानियों को प्रेम कहानी Love story कहते हैं। साहस-प्रधान कहानियों का हिन्दी में अभाव है पर अन्य देशों में बालक-बालिकाओं के लिए ऐसी कहानियाँ बहुत लिखी जाती हैं। जिन कहानियों में किसी पात्र का चरित्र चित्रण प्रधान रहता है, उन्हें स्केच वा शब्दचित्र कहते हैं—परन्तु अधिकतर ऐसे स्केच कहानी की श्रेणी में नहीं आते। प्रायः वे हास्यरस प्रधान होते हैं और हास्यरस के निबन्धों में उनकी गणना होती है। हास्यरस-प्रधान कहानियों का उद्देश्य केवल हँसाना होता है। हिन्दी में कुछ अन्योक्ति-प्रधान Allegorical कहानियाँ भी देखने में आती हैं—परन्तु उन्हें कहानी न कहकर कुछ और ही कहना उचित है—गद्य-काव्य, निबंध, जो कुछ भी हो।

कहानी के दोष—कहानी अपने उद्देश्य में तभी असफल होती है जब

वह पाठकों को संतुष्ट नहीं कर पाती। और संतुष्ट करने के लिए सब से बड़ा गुण उसमें यह होना चाहिए कि उसमें कोई वस्तु अस्वाभाविक न हो। असामंजस्य, विरोध, शिथिलता, असंभवता आदि ही इसके कारण होते हैं। आरम्भ से अन्त तक कोई ऐसी बात न हो कि पाठक रुककर कहने लगे—'यह व्यर्थ की बात है, यह असंभव है'—आरंभ से ही जो कहानी पाठकों की एकाग्रता को अंत तक न निबाह सकी वह कभी नहीं सफल कही जायगी।

प्लाट की मौलिकता कहानी में भारी गुण है, पर यह मौलिकता है क्या? असली मौलिकता नवीन समस्या वा घटना की सृष्टि में नहीं वरन् उसकी व्याख्या, उसके निर्वाह पर। मौलिकता कहानी की बंदिश और निर्वाह में है। यदि हम चाहें तो पुरानी-से-पुरानी समस्या को नया रूप दे सकते हैं। प्रेम, विवाह, विच्छेद आदि समस्याएँ आज की नहीं, पर सभी अपनी-अपनी सूझ से नई कहानी लिख सकते हैं। मौलिकता कहने की कला में है, तथ्य की व्याख्या में है।

भाषा की शिथिलता, दुरूहता, उखड़ापन आदि भी कहानी के सौन्दर्य को नष्ट करते हैं। वाक्यों का विन्यास स्वाभाविक होना चाहिए। लंबे-लंबे समास, संस्कृतगर्भित हिन्दी आदि से कहानी का उद्देश्य नष्ट हो जाता है। भावों की व्यञ्जना थोड़े शब्दों में अधिक स्वाभाविक रूप से होती है। क्रोध में हम कविता नहीं रचने लगते। विरह में विरही मेघदूत की सृष्टि नहीं करने बैठेगा। बातचीत में अधिक विस्तार, लेक्चरबाज़ी वग़ैरह अस्वाभाविक जान पड़ते हैं।

कहानी की धारा में आरम्भ से अन्त तक एक गति होनी चाहिये—कहीं रुकावट नहीं अच्छा लगता। उससे पाठक ऊब जाते हैं। ऊबना ही उसकी असफलता का प्रमाण है।

कहानी की उत्पत्ति—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपनी कहना और दूसरे की सुनना चाहता है। यदि मनुष्य में आत्माभिव्यंजन की प्रकृति न होती तो आज साहित्य का अस्तित्व ही न होता—हम क्यों लिखते, क्या लिखते, किसके लिए लिखते? आत्माभिव्यंजन की प्रवृत्ति ही हमें अपना दुःख-सुख, राग-द्वेष, आदि भावनाएँ दूसरों से कहने पर मजबूर करती हैं। हम दूसरों की इसीलिए सुनते हैं कि वे भावनाएँ हमें 'आत्मीय' सी लगती हैं। यदि उनका हमारे जीवन से कोई लगाव न हो तो हम उन्हें कभी न सुनें। यदि श्रोता ही न हो तो वक्ता क्या करेगा? कहानियों की उत्पत्ति के साथ ही साहित्य का जन्म हुआ होगा यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, अथवा आदि-साहित्य कहानी ही रहा होगा—यह कहना अधिक उपयुक्त होगा।

कहानी का संबन्ध हमारे निकटतम जीवन से है। विगत का इतिहास हम

कथा या कहानी के ही रूप में स्मरण रखते आये। मनुष्य का जीवन, उसके व्यापार कहानी नहीं तो हैं क्या ? हम जब अपने विगत के अनुभवों का वा दूसरों पर बीती घटनाओं का वर्णन करने बैठते हैं उस समय हम कहानी ही कहते हैं। आज हम गद्य के विकास के युग में कहानी से एक विशेष प्रकार की रचना का परिचय देते हैं, परन्तु पद्य के युग में समस्त महाकाव्य, पुराण, वीरकाव्य का आधार कथा वा कहानी ही तो था। जिस रचना में मानव-व्यापारों का वर्णन आया—क्या वह 'कहानी' की आत्मा के बिना जीवित रह सकती है ?

प्राचीन भारत में कहानी-साहित्य—संसार के समस्त साहित्यों में भारतीय साहित्य प्राचीन है। हमारे सर्व प्राचीन ग्रंथ वेदों में कहानियाँ मिलती हैं। एक नहीं अनेक कथाएँ वेदों में भरी पड़ी हैं। एक ऋषि इन्द्र को मानते हैं, यज्ञ में उनका आह्वान करते हैं। उन्हें हरे-हरे कोमल कुश पर बैठाते हैं। उन्हें सोम रस पिलाकर प्रसन्न करते हैं। वृत्रासुर को मारने के हेतु तैयार करते हैं—आदि आदि। वेदों में संवाद हैं, चरित्र हैं—ये ही तो कहानी के तत्व हैं। माना वे आधुनिक रूप में नहीं—पर बिन्दु रूप में तो कहानी के सभी तत्व प्राचीनतम वेदों में वर्तमान हैं।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ—सभी वस्तुओं का विकास हुआ, उनकी रूपरेखा बदलती गयी। साहित्य भी बदला। संस्कृत काल में कथा-साहित्य का ज़ोर बढ़ा। कादम्बरी और दशकुमारचरित, हितोपदेश, पञ्चतंत्र आदि अमर ग्रंथ इसके प्रमाण हैं; बौद्ध कालीन भारत में 'जातक' कथाओं का प्रचार था। इनका प्रचार तो यहाँ तक बढ़ा कि भारत के समीप के अन्य देशों में इनका अनुवाद हुआ।

हिन्दी भाषा के आरम्भ के युग में काव्य-साहित्य का ज़ोर था, फिर भी कथानकों की रचना बन्द नहीं हुई थी। हिन्दी में कितने कवियों ने आख्यानक काव्य लिखे। महाकाव्यों का प्रचार कम होने पर यद्यपि मुक्तक काव्य ही शेष रह गये फिर भी कथानक साहित्य की धारा मरी नहीं। गद्य के विकास के साथ-साथ उसका रूप पुनः प्रकट होने लगा। सन् १८०३ में सैयद इन्शाअल्लाख़ाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जिसको हम लोग खड़ी बोली की प्रथम कहानी कह सकते हैं। इसी समय लल्लूलाल ने प्रेमसागर, सदलमिश्र ने नासिकेतोपाख्यान लिखा। लल्लूलालजी ने तो बैतालपचीसी, सिंहासनबत्तीसी तथा शुकबहत्तरी—नामक पुस्तकें भी लिखीं। यद्यपि ये अनुवाद थीं पर कथानक-साहित्य के आरम्भिक युग में ये भी क्या कम थीं।

आधुनिक कहानी-साहित्य—आधुनिक कहानी-साहित्य का विकास प्राचीनधारा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। उसकी शैली पाश्चात्य ढंग का

अनुसरण करती है। हिन्दी में कहानी लिखने का चलन बँगला के अनुकरण से हुआ। बंगाल में अंग्रेज़ों का आगमन बहुत पहले हुआ था। बंगालवालों पर अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य का प्रभाव पहले पड़ा। सर्वप्रथम बँगला में 'गल्प' नाम से छोटी-छोटी कहानियों के लिखने का प्रचार बढ़ा। उनकी देखादेखी हिन्दीवालों ने भी उन्हें पढ़ने के लिए उनका अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित किया। उसी प्रकार की अनुवादित कहानियाँ सर्वप्रथम 'सरस्वती' में छपीं। इन्हीं दिनों बाबू गिरजाकुमार घोष ने कुछ अनुवाद, कुछ स्वतन्त्र अनुवाद और कुछ अपनी मौलिक कहानियाँ 'सरस्वती' में छपाई थीं।

हिन्दी में अपनी ओर मौलिक कहानियों का प्रचार 'इन्दु' पत्रिका से हुआ। 'सरस्वती' में भी पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने 'इन्दुमती' नामक एक कहानी लिखी थी। यह सन् १९०२ की बात है। सन् १९११ में जयशंकर प्रसाद ने 'इन्दु' में मौलिक कहानी लिखी। इसके पश्चात् तो कहानी लिखना आरम्भ हो गया। हिन्दी कहानी का वर्तमान युग 'इन्दु' से आरम्भ होता है।

नवयुग की कहानी—हिन्दी कहानी-साहित्य में युगान्तर उपस्थित करनेवाले प्रेमचन्द हैं। उसके पहले आप उर्दू में लिखा करते थे। हिन्दी में आते ही आपका आदर हुआ—फिर तो आप हिन्दी के हो गये। आपके पश्चात् हिन्दी कहानी का ज़ोर बढ़ता ही गया और अब भी बढ़ता ही जाता है। हिन्दी की पत्रिकाओं की संख्या भी पहले से बहुत बढ़ गयी। शायद ही कोई ऐसा पत्र हो—क्या मासिक, क्या साप्ताहिक वा दैनिक जिसमें कहानी को स्थान न मिले। गद्य-साहित्य में आजकल उपन्यास और विशेषकर कहानियों की प्रधानता हो रही है। ये लक्षण अच्छे हैं। अब कहानी-कला का भी विकास होता जा रहा है। अच्छी-से-अच्छी कहानियाँ देखने में आ रही हैं। उनमें कुछ निश्चय ऐसी हैं जो संसार की श्रेष्ठ कहानियों में स्थान पा सकती हैं। आधुनिक कहानियों का विषय, लेखन-शैली आदि भी विभिन्न और मौलिक होती जा रही हैं। परन्तु अधिकतर जैसा बाबू श्यामसुन्दरदासजी कहते हैं—"घटनाओं की सहायता से पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं को चित्रित करना आजकल की कहानियों का मुख्य लक्ष्य हो रहा है। समाज की कुरीतियों के प्रदर्शनार्थ भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, ऐतिहासिक तत्वों पर प्रकाश डालने की दृष्टि से भी कहानी लिखी जाती हैं और दार्शनिक कहानियाँ भी लिखी जाती हैं।"

कुछ कहानी-लेखक और उनकी शैली—इस संग्रह में यह असम्भव था कि हिन्दी के समस्त कहानी-लेखकों की एक-एक कहानी रखी जाती। विस्तार भय के अतिरिक्त पाठ्य-क्रम की दृष्टि से सभी लेखकों की कहानी इन्टरमीडियट के छात्रों के काम की भी नहीं। परन्तु जहाँ तक हो सका है अच्छे-अच्छे कहानी-लेखकों की एक ऐसी रचना चुनी गयी है जो उनकी शैली की परिचा-

यक होते हुए हमारे संग्रह के योग्य भी हो। यहाँ हम एक-एक कर उन लेखकों की विशेषता पर प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

गुलेरीजी—श्री चन्द्रधरजी गुलेरी की केवल एक ही कहानी मिलती है, परन्तु वह संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में आदर पा सकती है। यदि २८ वर्ष की अल्पायु में उनकी अकाल मृत्यु न हो जाती तो हिन्दी कहानी-साहित्य में जाने कितने उज्वल रत्न वे भर देते।

'उसने कहा था'—में हम कला की उत्तम झलक देखते हैं। गुलेरीजी की यह कहानी 'यथार्थवाद' (Realistic) श्रेणी की उत्तम कृति है। इसमें लेखक किसी आदर्श की व्यजना नहीं करता—न कुछ उपदेश देता है। मानव-समाज का उसने एक कलापूर्ण चित्र सामने रखा है। उनकी अनुवीक्षण शक्ति की कुशलता और प्रौढ़ता इस कहानी में प्रकट होती है। आधुनिक समालोचना-सिद्धान्तों की कसौटी पर उतारने पर हमें उसके 'आरम्भ' में कुछ अनौचित्य देख पड़ेगा। आजकल का कहानी-लेखक इस प्रकार 'निबन्ध' रूप में आरम्भ नहीं करेगा! यदि हम आरंभ का कुछ अंश निकाल दे तो कोई हर्ज नहीं। परन्तु जिस युग में यह कहानी लिखी गयी थी उसमें इस प्रकार का 'बाँधनू' बाँधने का चलन था। यह कहना भी अनुचित होगा कि 'आरंभ' व्यर्थ है—नहीं इस प्रकार लेखक पाठकों के मन में एक विशेष प्रकार का वातावरण उपस्थित करता है। हम उस प्रदेश के व्यक्तियों के व्यवहार से परिचित हो जाते हैं जिनमें से आगे चलकर हमारी कहानी के पात्र निकलते हैं।

'आरंभ' के बाद तो गुलेरीजी की कहानी उतनी स्वाभाविक रूप से चलती है कि जान ही नहीं पड़ता कि इसमें कहीं कोई कमी है। समस्त प्रसार मनोवैज्ञानिक आधार पर है। पाठक का ध्यान धीरे-धीरे उन वस्तुओं और घटनाओं की ओर आकृष्ट होता जिसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। भाषा की सरलता और स्वाभाविकता ने कहानी में जान डाल दी। कथोपकथन में नाटकों की-सी यथार्थता है। यही कारण है कि पात्र हमें साक्षात् मूर्तिमान दिखाई पड़ते हैं। उनका स्वाभाविक आचरण उन्हें हमारे बीच खींच लाता है। समस्त कहानी का आधार वीरोचित प्रेम है। इस प्रेम में इच्छा नहीं, वासना नहीं, स्वार्थ नहीं—है तो केवल पुरुष के पौरुष का वह गुप्त रहस्य जो केवल प्रेम जैसी कोमल वस्तु के आघात से खुल पड़ता है। फिर तो वह जान पर खेल जाता है, पुरुषत्व की पराकाष्ठा कर दिखाता है। किसी लाभ की आशा से नहीं, किसी लोभ की लालसा से नहीं—वरन् स्वान्तः सुखाय—केवल यह कल्पना कर कि एक स्त्री, एक अबला—उसके पुरुषत्व का बखान करेगी। इसी कोमल वृत्ति ने, इसी तथ्य ने पुरुष को स्त्री पर विजयी रखा—नारी

यदि पराजित हुई तो पुरुषत्व के आतंक से नहीं वरन् उसके आत्म-त्याग से !

गुलेरीजी ने अपनी कहानी में chivalry का सुन्दर आदर्श खड़ा किया है। वे कुछ कहते नहीं पर घटनाओं का क्रम, पात्रों का आचरण, सारी बातें हमारे मन को उसी आदर्श की ओर ले जाती हैं। Realistic कहानी लेखक की यही आदर्शवादिता है। वह कुछ कहता नहीं—वरन् हम पर ऐसा प्रभाव डालता है कि हम स्वयं उसी परिणाम पर पहुँचते हैं जिसे वह कहना नहीं चाहता। यही कला है जो Realistic कहानी का आदर्श निश्चय करती है। केवल घटनाओं और वस्तुओं के नग्न और स्वाभाविक वर्णन को कहानी नहीं कहते। कहानी की सरसता यत्र-तत्र हास्य और विनोद के पुट से सुरक्षित रखी गई है। सरस साहित्य का उद्देश्य सात्विक मनोरंजन है—न केवल हँसना, न केवल रुलाना !

सुदर्शन—वर्णनात्मक ढंग की कहानियों के लेखकों में सुदर्शनजी का कमाल देखने योग्य होता है। आरम्भ से ही ऐसी अविरल धारा छूटती है। कि पाठक फिसलता हुआ, बहता हुआ अन्त में किनारे जा लगता है। वह अपने को भूल-सा जाता है। भाषा का तो कहना ही नहीं—स्वाभाविक सरस और ज़ोरदार। सुदर्शनजी की कहानियों में 'रहस्य' का उद्घाटन इस प्रकार होता है कि पाठकों का कुतूहल (Suspense) बना रहता है। आदर्शवाद के सिद्धान्तों को वे कभी नहीं छोड़ते। इसके अनुसार वे अपनी कथावस्तु को ऐसे घुमाते रहते हैं कि 'नाटक' का आनन्द आता है। इस संग्रह की कहानी में राजपूतनी का उच्च आदर्श दिखाते हुए उन्होंने मनुष्य के दोनों प्रकार के आसुरी और दैवी भावों का दिग्दर्शन कराया है। सुलक्षणा को हम एक स्त्री के रूप में पाते हैं जो पुरुष के गुणों पर मोहित होकर उससे प्रेम करती है—और उस पर अपना पूर्ण अधिकार पाना चाहती है ! यही नहीं, उसे न पाने पर उस प्रिय वस्तु को नष्ट तक कर देना चाहती है। यह एक साधारण स्त्री की मनोवृत्ति है जो अधोगति को प्राप्त होकर अपने प्रियतम का सिर चाहती है। परन्तु यही स्त्री अपने समाज के संस्कारों के प्रभाव से सोचने लगती है—

"यह राजपूतकुलभूषण है और धर्म पर स्थिर रहकर जाति न्योछावर हो रहा है। मैं भ्रष्टा होकर अपनी जाति के एक बहुमूल्य व्यक्ति के प्राण ले रही हूँ।"—यह विचार उस नारी में कायापलट कर देता है। पिशाचिनी से देवी बन जाती है !

सुदर्शन जी ने भारतीय समाज को समझने की चेष्टा की है। हमारा समाज यद्यपि इस गिरी दशा को पहुँचा हुआ है फिर भी पुराने संस्कार अब भी बिल्कुल मर नहीं गये। क्षणिक आघात से हमारी सोती हुई आत्मा जग सकती

है। हम अपने आदर्शों पर मर मिट सकते हैं। हम निर्बल हो गये ठीक, पर हमारी आन अभी एकदम नहीं मरी। सुदर्शनजी की सूक्तियाँ बड़ी मार्मिक होती हैं। इनसे प्रसुप्त भावनाएँ एकदम जग उठती हैं। इनमें दार्शनिक की व्याख्या तो है ही पर कवि का हृदय भी है।

कौशिक—कौशिकजी भी सुदर्शन ही के श्रेणी के लेखक हैं पर इनकी कहानियों में पारिवारिक जीवन के विशद् चित्र मिलते हैं। उनकी शैली भी चुस्त और कथोपकथन स्वाभाविक हैं। विद्रोही कहानी में हमें उनकी शैली का सुन्दर रूप मिलता है। आरम्भ कितना सुन्दर है—कहानी के भावी कथानक का आभास मिलता है। कितना चुस्त वार्तालाप है—मानो नाटक हो। कौशिकजी आवश्यकता से अधिक कहना नहीं जानते। उनके वाक्य छोटे-छोटे और चुस्त होते हैं। उनका वर्णन 'विस्तार' का दोषी नहीं होने पाता। यदि आवश्यकता हुई तो दो एक वाक्यों में सारा काम कर दिया। जैसे—

'रण भेरी बजी। कोलाहल मचा। मुग़ल सैनिक मैदान में एकत्रित होने लगे। पत्ता-पत्ता खड़खड़ा उठा। बिजली की भाँति तलवारें चमक रही थीं। उस दिन सब में उत्साह था। युद्ध के लिए भुजाएँ फड़कने लगी थीं।'

× × ×

'श्रावण का महीना था।'

× × ×

कौशिकजी 'अन्त' भी सुन्दर लिखते हैं। संक्षिप्त और चुभता। अन्तिम वाक्य तो कुछ देर तक पाठक के मन में गूँजते रहते हैं। जैसे—

"तुम्हारी मनोकामना पूरी हुई—मैं प्रताप के सामने परास्त हो गया!"

× × ×

और ज़रा सोचिए उसके बाद शीर्षक—"विद्रोही' कितना उपयुक्त है।

जैनेन्द्र-कुमार—कहानी के क्रमिक विकास और पात्रों के चरित्र के विकास के चित्रण में जैनेन्द्रजी अपने क्षेत्र में अकेले हैं। उसके कारण आपकी कहानी यद्यपि मंथर गति से चलती है पर उसकी मस्ती में अन्तर नहीं आता। आपकी भाषा भी सरल पर कुछ शिथिल होती है। जैनेन्द्रजी की विशेषता इस बात में है कि आप मानव-मानस की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तरंगों पर ध्यान रखते हैं। अन्त-र्द्वन्द्व की व्याख्या आपकी बड़ी सुन्दर होती है। आप पात्रों के आन्तरिक विश्लेषण करने में बड़े प्रवीण हैं। आपके पात्र हमारे सामने 'मनुष्य' से गुण दोष भरे आते हैं पर 'मनुष्य' ही की तरह वे विवेक से काम लेते हैं। और यही उन्हें ऊपर ऊठाता है। आपकी कहानियाँ 'यथार्थ' श्रेणी की होती हैं। सामाजिक व्यवस्था वा भारतीय वातावरण से आपका अधिक लगाव नहीं

रहता। आप मनुष्य को मनुष्य और 'सविवेक पशु' मानते हुए लिखते हैं। इसी से मानवी भाव तो वे बहुत सुन्दर चित्रित करते हैं पर भारतीय वातावरण के अनुरूप कभी-कभी वे अपनी कहानी नहीं बना पाते। कला तो होती है। उसमें उपयोगिता वे मानते नहीं।

जयशंकर प्रसाद—जयशंकर प्रसादजी कवि हैं, भावुक हैं, कलाकार हैं। जयशंकर प्रसादजी की अपनी कुछ भावनाएँ हैं, समाज की व्यवस्था के विषय में उनके अपने सिद्धान्त हैं। आपकी कहानी भाव-प्रधान होती है। आप 'यथार्थवाद' के पक्ष में होते हुए अधिक Rational होना चाहते हैं। आपके पात्रों पर केवल विवेक का बंधन रहता है और भावों का प्राचुर्य्य। यही कारण है कि आपके पात्र सजीव होते हुए भी 'दुर्लभ' प्रतीत होते हैं। आप नाटककार हैं—आपकी कहानियों में इसी हेतु कथोपकथन की चुस्ती देख पड़ती है। आप अंतर्द्वन्द की व्याख्या कम करते हैं—सफल नाटककार की भाँति बातचीत में उसे बड़ी सुन्दरता से प्रकट करते हैं। कथोपकथन लिखने में तो आप एक हैं। आपकी कहानी में चुस्ती रहती है—आकर्षक 'आरंभ' तो होता ही है पर 'अंत' भी अपने ढग का निराला होता है—बड़ा ही भावपूर्ण, ध्वन्यात्मक और सहसा पढ़ने के बाद पाठक का मन झकझोर उठता है। वह एक समस्या को पुनः सुलझाने लगता है—सोचता है—'फिर क्या हुआ, आगे क्या हुआ—' इस प्रकार का 'अत' कुछ आलोचक अच्छा नहीं मानते पर प्रसादजी की कहानियों में यही गुण है।

चतुरसेन शास्त्री—आधुनिक 'जर्नलिस्टिक' (Journalistic) टाइप के कहानी-लेखकों में चतुरसेन शास्त्री की लेखनी सचमुच लोह-लेखनी है। आपकी कहानियों में प्रौढ़ता है, जोश है, चोट है, प्रवाह है, रोचकता और हृदय को लुभानेवाली शक्ति है। आपकी भाषा बड़ी ही मुहावरेदार और ओजस्विनी होती है। आप कहना जानते हैं—यही आपकी कला है। कहानी आरम्भ कर हम बिना समाप्त किये नहीं छोड़ सकते। यह दूसरी बात है कि उसका स्थायी प्रभाव मन पर न पड़े। पर पढ़ते समय हम उसे पढ़ने में तन्मय हो जाते हैं। आपका वर्णन विशद्, सजीव और स्वाभाविक होता है। आप एक 'समाँ' खड़ा कर देते हैं। सारा वातावरण तदात्मक हो जाता है। आपकी कहानी में शराब की-सी मादकता होती है। मज़ा आता है। आपकी कहानियों में 'घटना' प्रधान होती है, इसमें dramatic touch रहता है। कहानियों की रवानी दरिया की भाँति उमड़ती चलती है। पानवाली-कहानी आपकी शैली की प्रतिनिधि है।

राय कृष्णदास—राय कृष्णदास कवि हैं, कला मर्मज्ञ हैं और भावुक व्यक्ति हैं। आपकी कहानियों में दार्शनिक विचारों का होना स्वाभाविक है।

आपकी कहानियों की शैली आजकल की 'परख' की कसौटी पर उतारने पर खटकेगी। प्रस्तुत कहानी 'सम्राट का स्वत्व' में पूरे दो पृष्ठ का 'आत्मभाषण' आज-कल कोई न लिखेगा। परन्तु अपने स्थान पर यह बुरा नहीं। भावों का अन्तर्द्वन्द्व उससे बढ़कर सुन्दर रीति से प्रकट नहीं किया जा सकता। आपकी कहानियों में 'निबन्ध' का रंग दिखायी पड़ता है। आपकी भाषा भी कवित्वमय होती है। बीच-बीच में आलंकारिक उक्तियों आदि से उसकी शोभा और बढ़ जाती है। आपकी भाषा काशी के साहित्यिकों की 'हिन्दी' है जिसे लोग 'तत्समवादी' कहते हैं। घटनाओं की प्रधानता न होकर आपकी कहानियों में भावों की प्रधानता रहती है। जयशंकर प्रसादजी की शैली से आपकी शैली का बन्धुत्व नज़र आता है।

प्रेमचन्द—भारतीय हृदय को विशेषकर भारतीयों की बहु संख्या—ग्रामीणों के हृदय को जितना प्रेमचन्द ने समझा है उतना हिन्दी में किसी ने भी नहीं—यह निर्विवाद सिद्ध है। बाबू श्यामसुन्दरदास लिखते हैं—'प्रेमचंद की कहानियों में सामाजिक समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उनकी भाषा-शैली कहानियों के बहुत उपयुक्त हुई है और उनके विचार भी सब पढ़े-लिखे लोगों के विचार से मिलते-जुलते हैं। यही कारण है कि प्रेमचन्द की कहानियाँ सब से अधिक लोकप्रिय हैं।' पंडित गणेशप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—'ये (प्रेमचन्द) चरित्र-चित्रण में अपना सानी नहीं रखते—इनमें मुख्य बात यह है कि ये महाशय कहानी या उपन्यास जो कुछ भी लिखते हैं वह सोद्देश्य रूप से। उनकी हर एक कहानी में जनसमाज के लिए कोई न कोई उपदेशात्मक संदेश रहता है। सामाजिक अथवा नैतिक कुरीतियों का निवारण आपका लक्ष्य रहता है। पर आपका कथन कभी उग्र नहीं होता, बल्कि जो कुछ आप कहते हैं इस प्रकार की मीठी व्यंगपूर्ण भाषा में कहते हैं कि पाठक को कटुता का अनुभव कदापि नहीं होता, बस इसी में प्रेमचन्दजी का कौशल है। इनके अधिकार में एक बड़ी ही सरल तथा चुस्त भाषा शैली आ गयी है। इसका एक कारण शायद यह भी है कि आप उर्दू के बड़े अच्छे लेखक हैं। एक और मुख्य बात इनकी लेखन-कला के विषय में यह है कि ये मनुष्य-जीवन की साधारण से साधारण घटना को लेकर उसका निष्कर्ष निकालते समय मनुष्य हृदय के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों को मनोविज्ञान के नियमों के ढंग पर ऐसा सजाकर धर देते हैं कि देखते ही बनता है।'

प्रेमचन्द आदर्शवादी हैं। आपकी कहानियाँ किसी-न-किसी आदर्श की ओर संकेत करती हैं। आप मानव-जीवन के उच्च आदर्श के हिमायती हैं। भारतीय संस्कृति के मुर्झाये हुए प्रभाव को जाग्रत करने में आपकी कहानियाँ

काफी सहायता देती हैं। मनुष्य को ऊपर उठाना उसे संपूर्ण मनुष्य बनाना, इतना ही नहीं उसे चारों ओर अन्धकार से बचाकर ज्ञान, त्याग और महान् आदर्शों का मार्ग दिखाना आपका लक्ष्य रहता है। उसमें आप संपूर्ण रूप में सफल हुए हैं—भारतीय हृदय को आपकी कहानियाँ जितनी जँचती हैं उतनी अन्य किसी की नहीं।

श्रीभारतीय—नवीन लेखकों में श्रीभारतीय का नाम सबसे प्रथम लिया जा सकता है। थोड़े ही दिनों से आपने कहानी लिखना आरम्भ किया और थोड़े ही समय में उच्च कोटि की कहानियों की रचना आपने कर दिखायी। आप हिन्दी के विद्वान हैं। संस्कृत साहित्य के ज्ञाता हैं। भाषा पर आपका अधिकार है। प्राचीन तथा नवीन साहित्य के आदर्शों के आप ज्ञाता हैं। आपका अध्ययन, चिंतन दोनों विस्तृत और गम्भीर हैं। यही कारण है कि कहानी क्षेत्र में उतरते ही दो ही चार हाथ मारने पर आप पारंगत प्रतीत होते हैं। आपकी रचना-शैली की प्रौढ़ता और कलात्मक-वृत्ति का चमत्कार आपकी 'मुनमुन' कहानी में अच्छा मिलता है। यह आपकी सहृदता का परिचायक है कि एक बकरी के बच्चे में आपने इतनी जान भर दी कि वह मनुष्य-सा आचरण करता है। आपकी अन्वीक्षण शक्ति और वर्णन शैली का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। आप भी प्रेमचन्द की भाँति साहित्य को 'निरुद्देश्य' नहीं मानते। आप साहित्य को मनुष्य के उत्थान का साधन मानते हैं। भारतीय दृष्टिकोण से साहित्य की सृष्टि करने के हेतु ही मानों आपने 'भारतीय' उपनाम अंगीकार किया है।

भारतीयजी की कहानियों में सजीवता और स्वाभाविकता के साथ-साथ जीवन का उनका अपना दृष्टिकोण स्थल स्थल पर व्यंग रूप से प्रकट होता है। आप Rationalist हैं परन्तु साथ-ही-साथ आप भारतीय संस्कृति के परम भक्त भी हैं। आप अंधभक्ति को मूर्खता और अज्ञान का परिणाम समझते हैं। आपके सिद्धान्तों के अनुसार मनुष्य की सभ्यता की पराकाष्ठा सहृदयता में है, दूसरों को सहानुभूति-पूर्वक समझने में है—चाहे वह मनुष्य हो, चाहे पशु हो, चर हो या अचर हो। इसी कारण 'मुनमुन' में आपने कई स्थल पर चोट की है—कहीं ईश्वर पर, कहीं समाज पर, कहीं मनुष्य की विवेकशक्ति पर। स्थल-स्थल पर जैसे उनकी इच्छा यह प्रकट करने की हो—'मनुष्य, प्रथम अपनी ओर देख! Know thyself!'

आपकी कहानियों का आधार Realistic पद्धति है। पर आप समाज के नियमों वा मनुष्य के वर्तमान अनुभूतियों के विरुद्ध आचरण करने का साहस नहीं करना चाहते। हाँ, अंतर्द्वन्द्व रूप में आप यह अवश्य प्रकट कर देते हैं कि हम सामाजिक प्राणी हैं—विवश हैं—पर हमारी आत्मा मरी नहीं, समझती

है, चैतन्य है ; पर वह विद्रोह करने पर तैयार नहीं। आपका लक्ष्य मनुष्य की आत्मा को जीवित रखना है, उसे समाज और संस्कार के प्रभावों से अप्रभावित रखना है। पर मनुष्य रहते वह विद्रोह नहीं कर सकती— करके फिर जीवित नहीं रह सकती। इसी हेतु आप विद्रोही आचरणों के प्रति झुकते नहीं। आप 'व्यक्तिवादी' नहीं वरन् 'समाजवादी' हैं। 'मुनमुन' के अंग में आप के सिद्धान्त इस वाक्य से ध्वनित होते हैं—

'एक ने, मानों मानव समाज की हृदयहीनता का आजीवन अनुभव कर दार्शनिक की उदासीनता प्राप्त की थी—दूसरा, मानव जाति की सभ्यता की वेदी के सोपान की ओर घसीटे जाने पर बकरी के बच्चे की भाँति छटपटा रहा था !'

मनुष्य की सभ्यता का खोखलापन कितनी सुन्दरता से ध्वनित होता है—पर उसके प्रति विद्रोह की व्यंजना नहीं—दार्शनिक का उदासीनता की ओर लक्ष्य है। जो है वह रहेगा—रहे, पर उसकी निस्सारता समझना चाहिए। आत्मज्ञान को सचेत रखना—यही भारतीयजी का मानो सन्देश है।

वीरेश्वरसिंह—श्रीवीरेश्वरसिंहजी की कुछ कहानियाँ पत्रिकाओं में छपी हैं। उन्हें अभी पुस्तकाकार छपने का अवसर नहीं मिला ; पर इन कहानियों को देखकर एक उदीयमान लेखक का परिचय मिलता है। आपकी भाषा में प्रवाह है, प्रौढ़ता है पर यत्र-तत्र संयम की कमज़ोरी दीख पड़ जाती है। यह बहुत दिनों तक रुकनेवाली नहीं। आप में कहानी की अनुभूति है, कहने की प्रतिभा है। आपकी भाषा में कहीं-कहीं कवित्व दिखाई पड़ जाता है। 'परिवर्तन' नामक कहानी में आपकी सहृदयता और अन्वीक्षण शक्ति का आभास मिलता है। आप अन्तर्द्वन्द्व दिखाने की चेष्टा करते हैं और तह तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। आपकी वर्णन शैली ध्वन्यात्मक होती है। संक्षेप में, चुटीली भाषा में अधिक भाव प्रकट करने की आप चेष्टा करते हैं। प्रस्तुत कहानी में 'रामू' के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को दिखाकर आपने 'परिवर्तन' शीर्षक की सार्थकता प्रमाणित कर दी है।

भुवनेश्वरप्रसाद—भुवनेश्वरप्रसाद की रचनाओं में कला का आभास है यद्यपि उन पर पाश्चात्य प्रभाव छिपे नहीं रह सके हैं। आपकी शैली जैनेन्द्रजी की शैली के रास्ते पर चलती नज़र आती है पर जैनेन्द्रजी की भाषा की शिथिलता इसमें अनुपस्थित है। भुवनेश्वरप्रसाद मानव-प्रकृति के विश्लेषण की ओर अधिक ध्यान देते हैं। इनकी कहानियाँ भाव-प्रधान हैं। बीच-बीच में घटनाएँ तो केवल आधार-मात्र ही होती हैं। इनकी कहानी में घटना कम, मनोवैज्ञानिक परिवर्तन अधिक होता है। 'मौसी' नामक कहानी में इनकी शैली का सच्चा स्वरूप दिखाई पड़ता है। ये कुछ ही कहते हैं, बहुत कुछ छोड़

जाते हैं—उनका न कहना अधिक वाचाल है। वियोगान्त वा दुःखान्त कथा-वस्तु की ओर इनका अधिक झुकाव है। इनकी कहानियों के पात्र सजीव पर भावुक व्यक्ति जान पड़ते हैं। कथोपकथन तो इनके बहुत संक्षिप्त और मार्मिक होते हैं। बात यह है कि आप नाटककार भी हैं। इनकी दार्शनिकता किसी निश्चित सिद्धान्त की ओर लक्ष्य न कर केवल अपने उधेड़बुन में उलझ जाती है। इनकी शैली में चोट है, ओज है और है आधुनिक कला की छाया। भविष्य में आशा है इनकी लेखनी और विचार-शैली प्रौढ़ होकर साहित्य की अच्छी सेवा कर सकेगी।

सद्‌गुरुशरण अवस्थी—अवस्थीजी साहित्य के आलोचक हैं, शिक्षक हैं, स्वाध्यायी हैं। अभी हाल ही में आपकी कहानियों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। उसमें 'फूटा शीशा' नामक एक शीर्षक पर दस कहानियाँ हैं। इनको पढ़कर अवस्थीजी की वर्णन-शक्ति, विचार-शक्ति और विश्लेषण-शक्ति का क़ायल होना पड़ता है। वे जैसे साहित्य के आलोचक हैं वैसे जीवन के भी आलोचक हैं। इनकी कहानियों में सबसे सुन्दर वे स्थल हैं जहाँ ये अपने पात्रों के अन्तर्जगत में प्रवेश करते हैं। वे कहीं अपने पात्रों से पराभूत नहीं होते, कहीं आवेश में नहीं आते। उनकी दार्शनिकता सदैव उनकी कल्पना पर अंकुश लगाये रहती है। उनकी दृष्टि यथार्थ पर रहती है। आदर्शों के मोह में कहीं नहीं पड़ती। इनमें रसों का विकास और भावों की व्यञ्जना उतनी नहीं है जितनी जीवन-तत्वों पर पहुँचने की प्रेरणा। उनकी सृजन शक्ति एकांकी नहीं। प्रस्तुत संग्रह की कहानी 'फूटा शीशा' में प्रेम-स्मृति का बड़ा रोमांचकारी चित्रण दिखाई पड़ेगा। इसमें नगरों की काल कोठरियों में बसनेवालों का एक कारुणिक दृश्य का भी साक्षात् होता है। अवस्थीजी की भाषा में उक्ति वैचित्र्य है, कहने का तर्ज़ है, साहित्यिकपन है। कहीं-कहीं हास्य तथा व्यंग की हलकी तरंग भी दिखाई पड़ जाती है।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

(सन् १८८३—१९११)

[आपका जन्म कांगड़ा प्रान्त के गुलेर नामक गाँव में हुआ। आप संस्कृत, प्राकृत और अंग्रेज़ी के अच्छे विद्वान् थे। भाषा-शास्त्र पर आपका ख़ास अधिकार था। आप हिन्दू-विश्वविद्यालय में प्राच्य शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष थे। आप जयपुर के समालोचक और नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के सम्पादक भी थे। आपकी कहानियों में आपकी अद्भुत प्रतिभा, अपूर्व कल्पना-शक्ति, वर्णन-चातुरी और अनूठी भाषा का परिचय मिलता है।

ऐसे विद्वान् की स्वर्ग में भी आवश्यकता हुई। २८ वर्ष की अल्पायु में ही आप स्वर्ग सिधार गये।]

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथ-कर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले, तंग, चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर सब का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसाजी', हटो भाईजी', 'ठहरना माई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा', कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने, ख़ोमचे और भारेवालो के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए; हट जा, करमा वालिए; हट जा, पुत्तां प्यारिए; बच जा, लम्मी-वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बंबूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया

था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ हैं ?'

'मगरे में ;—और तेरे ?'

'माझे में,—यहाँ कहाँ रहती है ?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबाजार में हैं।'

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्कराकर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई ?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्ज़ीवाले के यहाँ या दूधवाले के यहाँ अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई ?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—'हाँ, हो गई।'

'कब ?'

'कल,—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ीवाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उँड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

[२]

'राम राम, यह भी कोई लड़ाई है ! दिन-रात ख़ंदकों में बैठे-बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दिखता नहीं—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी ख़ंदक हिल जाती है और सौ-सौ गज़ धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं ख़ंदक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो ख़ंदक में बिता ही दिए। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका

करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी मेम के बाग में, मखमल की सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती, कहती है तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी, बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं! यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते, क्यों?' सूबेदार हज़ारासिंह ने मुसकरा-कर कहा—'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफ़सर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?'

'सूबेदारजी, सच है'—लहनासिंह बोला—'पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चंबे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।' 'उदमी उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वज़ीरा तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगा।

वज़ीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा ज़मीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा!'

'लाड़ी होरां को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फरंगी मेम—'

'चुपकर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती

है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं !'

'अच्छा अब बोधासिंह कैसा है ?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ। 'रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख़्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है, और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वज़ीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—क्या मरने मराने की बात लगाई है ?

इतने में एक कोने से पंजाबी गीत की आवाज़ सुनाई दी। सारी ख़ंदक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गये; मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

[३]

दो पहर रात हो गई है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह ख़ाली बिस-कुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक ब्रानकोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुख पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

'क्यों बोधासिंह, भाई क्या है ?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो ?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।'

'और तुम ?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गरमी लगती है। पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता, चार दिन से तुम मेरे लिए—'

'हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।' यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो ?'

'और नहीं झूठ ?' यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने ज़बरदस्ती जरसी पहना दी और आप ख़ाकी कोट और ज़ीन का कुरता पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई—'सूबेदार हज़ारासिंह।'

'कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हुजूर !' कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़्यादा जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव है। जहाँ मोड़ है, वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं जब तक दूसरा हुक्म न मिले डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ, तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—'लो, तुम भी पियो।'

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—'लाओ, साहब।' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा, बाल देखे, तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियोंवाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह क़ैदियों के-से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये ?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौक़ा मिल गया है ? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उनकी रेजिमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे ?'

'लड़ाई ख़त्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं ?'

'नहीं साहब, शिकार के वे मज़े यहाँ कहाँ ? याद है, पारसाल नक़ली

लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के ज़िले में शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ'—वहीं, जब आप खोते* पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? 'बेशक, पाजी कहीं का'—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मज़ा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रजिमेंट की मेस में लगायेंगे। 'हो, पर हमने वह विलायत भेज दिया' ऐसे बड़े-बड़े सींग। दो-दो फुट के तो होंगे ?'

'हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे, तुमने सिगरेट नहीं पिया ?'

'पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ' कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

'कौन ? वज़ीरासिंह ?'

'हाँ, क्यों लहना ? क्या क़यामत आ गई ? ज़रा तो आँख लगने दी होती ?'

[४]

'होश में आओ। क़यामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।'

'क्या ?'

'लपटन साहब या तो मारे गये हैं या क़ैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा† साफ़ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?'

'तो अब ?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरां कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खंदक की बात झूठ है चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

---

* गधे।

† ससुरा (गाली)

'ऐसी तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से, बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को तीन जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ़ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने...

बिजली की तरह दोनो हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आँख! मीन गोट्ट' * कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीन गोले बीन कर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास हटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फ़ुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्त्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं, पर यह तो कहो, ऐसा साफ़ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पाँच लफ़्ज भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानो जाड़े से बचाने के लिए, दोनो हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—चालाक तो बड़े हो; पर माझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने को तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा× बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनीवाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से विमान चलाने

---

* हाय! मेरे राम! (जर्मन)

× खटिया

की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ आयेंगे तो गो-हत्या बंद कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपए निकाल लो, सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो...

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फ़ायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—'क्या है ?'

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफ़ा फाड़ कर घाव के दोनो तरफ़ पट्टियाँ कसकर बाँधी। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बंद हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था, वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे...

अचानक आवाज़ आई 'वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी का ख़ालसा !' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फ़ायर जर्मनी की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया। एक किलकारी और—'अकाल सिक्खों की फौज आई ! वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी दा खालसा !! सत श्री अकाल पुरुष !!!' और लड़ाई ख़तम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी को साफा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को ख़बर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी

चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन-भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागज़ात पाकर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही; पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—'तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनी जी की सौगन्ध है, जो इस गाड़ी में न चले जाओ।'

'और तुम?'

'मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ? वजीरासिंह मेरे पास ही है।'

'अच्छा, पर—'

'बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होरा को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था, वह मैंने कर दिया।'

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—'तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?'

'अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना।'

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया—'वज़ीरा पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।'

[५]

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ़ हो जाती है। जन्मभर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ़ होते हैं, समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्ज़ीवाले के यहाँ, हर कहीं उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है तेरी कुड़माई हो गई ? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—'हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू ?' सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ ?

'वज़ीरासिंह, पानी पिला दे।'

× × ×

पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुकद्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार 'बेडे'* में से निकलकर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं ! जा मिल आ।' लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं ? कब से ? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाज़े पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना ?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गई ?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट से मूर्च्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वज़ीरा, पाली पिला'—'उसने कहा था।'

स्वप्न चल रहा है सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों× की एक घँघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती ? एक बेटा है। फौज में भर्ती

* ज़नाने। × स्त्रियों।

हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी—'अब दोनो जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनो को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी× में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वज़ीरासिंह, पानी पिला'—उसने कहा था।'

लहना का सिर अपनी गोद में रखे वज़ीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—'कौन? कीरतसिंह?'

वज़ीरा ने कुछ समझ कर कहा—'हाँ।'

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट* पर मेरा सिर रख ले।'

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अब के हाड़† में यह आम खूब फलेगा। चाचा भतीजा दोनो यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।'

वज़ीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

× × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अख़बारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम–६८ वीं सूची–मैदान में घावों से मरा–नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

प्रश्नावली—

१. लहनासिंह के चरित्र से उसके निम्नलिखित गुणों को प्रमाणित कीजिए :—
   प्रेम, बलिदान, वीरता, सतर्कता, वचन-वीरता।
२. लहनासिंह ने सूबेदारनी के आदेश का पालन इतने आत्मत्याग से क्यों किया?
३. लहनासिंह को कैसे मालूम हुआ कि लपटन साहब उसका असली अफ़सर नहीं बल्कि जर्मन जासूस ने लपटन का भेस रख लिया है!
४. प्रसंग के साथ इन अवतरणों का अर्थ लिखिए :—
   (क) आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया।
   (ख) होश में आओ। क़यामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।
   (ग) ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच आ गए।
   (घ) हाँ याद आई, मेरे पास दूसरी गरम जरसी है, आज सबेरे ही आई है।

× अन्दर का घर। * जाँघ † आषाढ़।

५. मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ़ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएं एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ़ होते हैं, समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है। क्या यह कथन सत्य है। प्रमाण दो।

६. (अ) इस गल्प में तुम्हें इस बात का कोई पता चलता है कि लहनासिंह की शादी हुई या नहीं।

(ब) लहनासिंह को अपनी मृत्यु के विषय में क्या लालसा थी ?
वह कैसे पूरी हुई ?

७. निम्नलिखित मुहावरों का अर्थ लिखोः—
जीरो जोगिए, कुड़माई. गनीम, ग़ैबी गोला, कपालक्रिया।

राजपुतानी का प्रायश्चित

श्री सुदर्शन

(सन् १८९६)

[आपका जन्मस्थान स्यालकोट है। आपका वास्तविक नाम पंडित बद्रीनाथ है। आपने उर्दू में अधिक रचनाएँ की हैं। पर हिन्दी में भी आपके कई नाटक, गल्पसंग्रह प्रकाशित हुए हैं। कहानी-लेखकों में आप अग्रगण्य माने जाते हैं। आपकी भाषा सरल, मनोरंजक और मुहावरेदार होती है। आप वर्णन करने में वर्ण्य विषय की प्रतिमूर्ति खड़ी कर देते हैं। आपकी कहानियों का विषय सामाजिक समस्या होती है।

[१]

कुँवर वीरमदेव कलानौर के राजा हरदेवसिंह के पुत्र थे, तलवार के धनी और पूरे रणवीर। प्रजा उनपर प्राण देती थी, और पिता देख-देखकर फूला न समाता था। वीरमदेव ज्यों-ज्यों प्रजा की दृष्टि में सर्वप्रिय होते जाते थे, उनके सद्गुण बढ़ते जाते थे। प्रातःकाल उठकर स्नान करना, निर्धनों को दान देना, यह उनका नित्यकर्म था, जिसमें कभी चूक नहीं होती थी। वे मुस्कराकर बातें करते थे, और चलते-चलते बाट में कोई स्त्री मिल जाती, तो नेत्र नीचे करके चले जाते। उनका विवाह नरपुर के राजा की पुत्री राजवती से हुआ था। राजवती केवल देखने में ही रूपवती न थी, वरन् शील और गुणों में भी अनुपम थी। जिस प्रकार वीरमदेव पर पुरुष मुग्ध थे, उसी प्रकार राजवती पर स्त्रियाँ लट्टू थीं। कलानौर की प्रजा उनको 'चन्द्र-सूर्य की जोड़ी' कहा करती थी।

वर्षा के दिन थे, भूमि के चप्पे-चप्पे पर से सुन्दरता निछावर हो रही थी।

वृक्ष हरे-भरे थे, नदी, नाले उमड़े हुए थे। वीरमदेव सफलगढ़ पर विजय प्राप्त करके प्रफुल्लित मन से वापस आ रहे थे। सम्राट् अलाउद्दीन ने उनके स्वागत के लिए बड़े समारोह से तैयारियाँ की थीं। नगर के बाज़ार सजे हुए थे। छज्जों पर स्त्रियाँ थीं। दर्बार के अमीर अगवानी को उपस्थित थे। वीरमदेव उत्फुल्ल बदन से सलामें लेते और दर्बारियों से हाथ मिलाते हुए दर्बार में पहुँचे। उनका तेजस्वी मुखमंडल और विजयी चाल-ढाल देखकर अलाउद्दीन का हृदय दहल गया, परन्तु वह प्रकट हँसकर बोला—'वीरमदेव ! तुम्हारी वीरता ने हमारे मन में घर कर लिया है। इस विजय पर तुमको बधाई है।'

वीरमदेव को इससे प्रसन्नता नहीं हुई। हंत !! यह बात किसी सजातीय के मुख से निकलती, वह बधाई किसी राजपूत की ओर से होती, तो कैसा आनन्द होता ! विचार आया, मैंने क्या किया ? वीरता से विजय प्राप्त की, परन्तु दूसरे के लिए। युद्ध में विजयी, परन्तु सिर झुकाने के लिए। इस विचार से मन में ग्लानि उत्पन्न हुई। परन्तु आँख ऊँची की तो दर्बारी उनकी ओर ईर्ष्या से देख रहे थे और आदर-पुरस्कार पाँवों में बिछ रहा था। वीरमदेव ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—'हजूर का अनुग्रह है, मैं तो एक निर्बल व्यक्ति हूँ।'

बादशाह ने कहा 'नहीं, तुमने वास्तव में वीरता का काम किया है। हम तुम्हें जागीर देना चाहते हैं।'

वीरमदेव ने कहा 'मेरी एक प्रार्थना है।'

'कहो।'

'क़ैदियों में एक नवयुवक राजपूत जीतसिंह है, जो पठानों की ओर से हमारे साथ लड़ा था। वह है तो शत्रु, परन्तु अत्यंत वीर है। मैं उसे अपने पास रखना चाहता हूँ।'

अलाउद्दीन ने मुस्कराकर उत्तर दिया—'मामूली बात है, वह क़ैदी हमने तुम्हें बख़्शा।'

[२]

दो वर्ष के पश्चात् वीरमदेव कलानौर को वापस लौटे, तो मन उमंगों से भरा हुआ था। राजवती की भेंट के हर्ष में पिछले दुःख सब भूल गये। तेज चलनेवाले पक्षी की नाईं उमंगों के आकाश में उड़े चले जाते थे। मातृभूमि के पुनर्दर्शन होंगे। जिस मिट्टी से शरीर बना है, वह फिर आँखों के सम्मुख होगी। मित्र-बंधु स्वागत करेंगे, बधाइयाँ देंगे। उनके शब्द जिह्वा से नहीं, हृदय से निकलेंगे। पिता प्रसन्न होंगे, स्त्री द्वार पर खड़ी होगी।

ज्यों-ज्यों कलानौर निकट आ रहा था, हृदय की आग भड़क रही थी। स्वदेश का प्रेम हृदय पर जादू का प्रभाव डाल रहा था। मानों पावों की मिट्टी की जंजीर खींच रही थी। एक पड़ाव शेष था कि वीरमदेव ने जीतसिंह से

हँसकर कहा 'आज हमारी स्त्री बहुत व्याकुल हो रही होगी।

जीतसिंह ने यह सुना, तो चौंक पड़ा, और आश्चर्य से बोला—आप विवाहित हैं क्या?

वीरमदेव ने बेपर्वाही से उत्तर दिया 'हाँ, मेरे विवाह को पाँच वर्ष हो गये।'

जीतसिंह का चेहरा लाल हो गया। कुछ क्षणों तक वह चुप रहा, परन्तु फिर न सह सका, क्रोध से चिल्लाकर बोला—'बड़े हृदयशून्य हो, मैं तुम्हें ऐसा न समझता था।'

वीरमदेव कल्पना के जगत में सुख के महल बना रहे थे। यह सुनकर उनका स्वप्न टूट गया। घबराकर बोले—'जीतसिंह यह क्या कहते हो!'

जीतसिंह अकड़कर खड़ा हो गया, और तनकर बोला—'समरभूमि में तुमने पराजय दी है, परन्तु बचन निबाहने में तुम मुझ से बहुत पीछे हो।'

'बाल्यावस्था में मेरी तुम्हारी प्रतिज्ञा हुई थी। वह प्रतिज्ञा मेरे हृदय में वैसी की वैसी बनी हुई है, परन्तु तुमने अपने पतित हृदय की तृप्ति के लिए नया बाग और नया पुष्प चुन लिया है। अब से पहले मैं समझता था, कि मैं तुमसे पराजित हुआ, परन्तु अब मेरा सिर ऊँचा है। क्योंकि तुम मुझसे कई गुना अधिक नीच हो। पराजय सादर लज्जा है, परन्तु प्रेम की प्रतिज्ञा को पूरा न करना पतन का कारण है।'

वीरमदेव यह वक्तृता सुनकर सन्नाटे में आ गये, और आश्चर्य से बोले, 'तुम कौन हो? मैंने तुमको अभी तक नहीं पहचाना।'

जीतसिंह कुछ समय के लिए शान्त रहा, और फिर धीरे से बोला—'मैं...मैं सुलक्षणा हूँ।'

वीरमदेव के नेत्रों से पर्दा हट गया, और उनको वह अतीत काल स्मरण हुआ, जब वे दिनरात सुलक्षणा के साथ खेलते रहा करते थे। इकट्ठे फूल चुनते, इकट्ठे मंदिर में जाते और इकट्ठे पूजा करते थे। चन्द्रदेव की शुभ्र ज्योत्स्ना में वे एक स्वर से मधुर गीत गाया करते थे, और प्रेम की प्रतिज्ञाएँ किया करते थे। परंतु अब वे दिन बीत चुके थे, सुलक्षणा और वीरमदेव के मध्य में एक विशाल नदी का पाट था।

सुलक्षणा ने कहा, 'वीरमदेव! प्रेम के पश्चात् दूसरा दर्जा प्रतिकार का है। तुम प्रेम का अमृत पी चुके हो, अब प्रतिकार के विषपान के लिए अपने होठों को तय्यार करो।'

वीरमदेव उत्तर में कुछ कहा चाहते थे, कि सुलक्षणा क्रोध से होठ चबाती हुई खेमे से बाहर निकल गई, और वीरमदेव चुपचाप बैठे रह गये।

दूसरे दिन कलानौर के दुर्ग से घनगर्ज शब्द ने नगरवासियों को सूचना दी, वीरमदेव आते हैं। स्वागत के लिए तय्यारियाँ करो।

हरदेवसिंह ने पुत्र का मस्तक चूमा। राजवती आरती का थाल लेकर द्वार पर आई कि वीरमदेव ने वीरता से झूमते हुए दरवाजे में प्रवेश किया। परंतु अभी आरती न उतारने पाई थी, कि एक बिल्ली टाँगों के नीचे से निकल गई, और थाल भूमि पर आ रहा। राजवती का हृदय धड़क गया, और वीरमदेव को पूर्व दिन की घटना याद आ गई।

[३]

अभी सफलगढ़ की विजय पुरानी न हुई थी, अभी वीरमदेव की वीरता की साखा लोगों को भूलने न पाया था कि कलानौर को अलाउद्दीन के सिपाहियों ने घेर लिया। लोग चकित थे, परन्तु वीरमदेव जानते थे कि यह आग सुलक्षणा की लगाई हुई है।

कलानौर यद्यपि साधारण दुर्ग था, परंतु इससे वीरमदेव ने मन नहीं हार दिया। सफलगढ़ की नूतन विजय से उनके साहस बढ़े हुए थे। अलाउद्दीन पर उनको असीम क्रोध था। मैंने उसकी कितनी सेवा की, इतनी दूर की कठिन यात्रा करके पठानों से दुर्ग छीनकर दिया, अपने प्राणों के समान प्यारे राजपूतों का रक्त पानी की तरह बहा दिया और उसके बदले में, जागीरों के स्थान में, यह अपमान प्राप्त हुआ है।

परन्तु राजवती को सफलगढ़ की विजय और वीरमदेव के आगमन से इतनी प्रसन्नता न हुई थी, जितनी आज हुई। आज उसके नेत्रों में आनन्द की झलक थी, और चेहरे पर अभिमान तथा गौरव का रंग। वीरमदेव भूले हुए थे, अलाउद्दीन ने उन्हें शिक्षा देनी चाही है। पराधीनता की विजय से स्वाधीनता की पराजय सहस्र गुना अच्छी है। पहले उसे ग्लानियुक्त प्रसन्नता थी—अब हर्षयुत भय। पहले उसका मन रोता था, परन्तु आँखें छिपाती थीं। आज उसका हृदय हँसता था, और आँखें मुस्कराती थीं। वह इठलाती हुई पति के सम्मुख गई, और बोली—'क्या संकल्प है?'

वीरमदेव जोश और क्रोध से दीवाने हो रहे थे, झल्लाकर बोले—'मैं अलाउद्दीन के दाँत खट्टे कर दूँगा।'

राजवती ने कहा—'जीवननाथ! आज मेरे उजड़े हुए हृदय में आनन्द की नदी उमड़ी हुई है!'

'क्यों?'

'क्योंकि आज आप स्वाधीन राजपूतों की नाईं बोल रहे हैं। आज आप वे नहीं हैं, जो पन्द्रह दिन पहले थे। उस समय और आज में महान अन्तर हो गया है। उस दिन आप पराधीन वेतन-ग्राही थे, आज एक स्वाधीन सिपाही हैं। उस दिन आप शाही प्रसन्नता के अभिलाषी थे, आज उसके समान स्वाधीन हैं। उस दिन आपको सुख-सम्पत्ति की आकांक्षा थी, आज आन की

धुन है। उस समय आप नीचे जा रहे थे, आज आप ऊपर उठ रहे हैं।'

राजवती के यह गौरव भरे शब्द सुनकर वीरमदेव उछल पड़े, और राजवती को गले लगाकर बोले—'राजवती! तुमने मेरे मन में बिजली भर दी है। तुम्हारे यह शब्द क्षेत्र में मेरे मन को उत्साह दिलाते हुए मुझे लड़ायेंगे। दुर्ग तुम्हारे अर्पण है।'

दुन्दुभि पर चोट पड़ी, राजपूतों के दिल खिल गये। माताओं ने पुत्रों को हँसते हुए बिदा किया। बहनों ने भाइयों को तलवारें बाँधी। स्त्रियाँ स्वामियों से हँस-हँसकर गले मिलीं, परन्तु मन में उद्विग्नता भरी हुई थी! कौन जाने, फिर मिलाप हो या न हो।

दुर्ग के कुछ अन्तर नदी बहती थी। राजपूत उसके तट पर डट गये। सेनापति की सम्मति थी, कि हमको नदी के इस पार रहकर शाही सेना को पार होने से रोकना चाहिए, परन्तु वीरमदेव जोश में पागल हो रहे थे, उन्होंने कहा 'हम नदी के उस पार शाही सेना से युद्ध करेंगे, और सिद्ध कर देंगे, कि राजपूतों का बाहुबल शाही सेना की शक्ति से कहीं अधिक है।'

राजपूतों ने महादेव की जय के जयकारे बुलाते हुए नदी को पार किया, और वे शाही सेना से जुट गये।

राजपूत शाही सेना की अपेक्षा थोड़े थे, परन्तु उनके साहस बढ़े हुए थे, और राजपूत बराबर आगे बढ़ रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो शाही सेना पर राजपूतों की निर्भीकता और वीरता ने ने जादू कर दिया है। परन्तु यह अवस्था अधिक समय तक स्थिर न रही। शाही सेना राजपूतों की अपेक्षा कई गुना अधिक थी, इसलिए संध्या होते-होते पासा पलट गया। राजपूतों को नदी के इस पार आना पड़ा।

इससे वीरमदेव को बहुत आघात पहुँचा। उन्होंने रात को एक ओजस्विनी वक्तृता दी, और राजपूतों के पूर्वजों के साखे सुना-सुनाकर उनको उत्तेजित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजपूतों ने क्रुद्ध सिंहों के समान तैरकर दूसरे दिन नदी पार करने की प्रतिज्ञा की, परन्तु मनुष्य कुछ सोचता है, परमात्मा की कुछ और इच्छा होती है। इधर यह विचार हो रहे थे, उधर, मुसलमान भी सोये न थे। उन्होंने कल्मा पढ़कर कसमें खाई कि मरते-मरते मर जायँगे, परन्तु पीठ न दिखायेंगे। मुट्ठी भर राजपूतों से हारना सख़्त कायरता है। लोग क्या कहेंगे यह 'लोग क्या कहेंगे' का भय लोगों से बहुत कुछ करवा देता है।

[४]

प्रातःकाल हुआ तो लड़ाके वीर फिर आमने-सामने हुए, और लोहे से लोहा बजने लगा। वीरमदेव की तलवार गजब ढा रही थी। वे जिधर झुकते

थे, परे के परे साफ़ कर देते थे। उनकी रणदक्षता से राजपूत सेना प्रसन्न हो रही थी, परन्तु मुसलमानों के हृदय बैठे जाते थे। यह मनुष्य है या देव ; जो न मृत्यु से भय खाता है, न घावों से भय खाता है, न घावों से पीड़ित होता है। जिधर झुकता है, विजयी-लक्ष्मी फूलों की वर्षा करती है। जिधर जाता है, सफलता साथ जाती है। इससे युद्ध करना लोहे के चने चबाता है। शाही सेना नदी के दूसरे पार चली गई।

वीरमदेव ने राजपूतों के बढ़े हुए साहस देखे, तो गद्गद हो गये, सिपाहियों से कहा, मेरे पीछे-पीछे आ जाओ, और आप घोड़ा नदी में डाल दिया, इस साहस और वीरता पर मुसलमान आश्चर्यचकित हो रहे ; परन्तु अभी उनका विस्मय कम न हुआ था, कि राजपूत किनारे पर आ गये, और तुमुल संग्राम आरम्भ हो गया। मुसलमान सेना लड़ती थी रोटी के लिए, उसके पैर उखड़ गये। राजपूत लड़ते थे मातृभूमि के लिए, विजयी हुए। शाही सेना में भगदड़ मच गई, सिपाही समर भूमि छोड़ने लगे। वीरमदेव के सिपाहियों ने पीछा करना चाहा, परन्तु वीरमदेव ने रोक दिया। भागते शत्रु पर आक्रमण करना वीरता नहीं पाप है। और जो यह नीच कर्म करेगा, मैं उसका मुँह देखना पसन्द न करूँगा।

विजयी सेना कलानौर में प्रविष्ट हुई। स्त्रियों ने उन पर पुष्प बरसाये, लोगों ने रात को दीपमाला की। राजवती ने मुस्कराती हुई आँखों से वीरमदेव का स्वागत किया, और उनके कंठ में विजयमाला डाली। वीरमदेव ने राजवती को गले लगा लिया और कहा—मुझे तुझ पर मान है, तू राजपूतानियों में सिरमौर है।'

[५]

इस पराजय ने अलाउद्दीन के हृदय के भड़कते हुए अग्नि पर तैल का काम किया। उसने चारों ओर से सेना एकत्रित की, और चालीस हजार मनुष्यों से कलानौर को घेर लिया। वीरमदेव अब मैदान में निकलकर लड़ना नीतिविरुद्ध समझ दुर्ग में दुबक रहे।

दुर्ग बहुत दृढ़ और ऊँचा था। उसमें प्रवेश करना असंभव था। शाही सेना ने पड़ाव डाल दिया, और वह रसद के समाप्त होने की प्रतीक्षा करने लगी। सात मास व्यतीत हो गये, शाही सेना निरन्तर घेरा डाले पड़ी रही। दुर्ग में रसद घटने लगी। वीरमदेव ने राजवती से कहा—'प्रिये! अब क्या होगा?

राजवती बोली—'आपका क्या विचार है?'

वीरमदेव ने उत्तर दिया—शाही सेना बहुत अधिक है। इससे छुटकारा पाना असम्भव है। परन्तु यह सब युद्ध मेरे लिए है, गेहूँ के साथ घुन भी पिसेंगे, यह क्यों?

राजवती ने आश्चर्य से सिर ऊपर किया, और कहा—'यह क्या जीवन-नाथ ! क्या शाही सेना आपको पाकर दुर्ग की ईंट से ईंट न बजा देगी ?'

वीरमदेव ने ठंडी साँस भरी, और कहा—'नहीं अलाउद्दीन कलानौर नहीं, वरन् मुझे चाहता है।'

'और यदि वह आपको प्राप्त कर ले, तो दुर्ग पर अधिकार न जमायगा ?'

'यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, यदि मैं अपने आपको शाही सेना के अर्पण कर दूँ, तो सम्भव है, सेना हटा ली जाय।'

राजवती ने मन-ही-मन सोचा, यदि कलानौर को भय नहीं, तो हमारे लिए इतना रक्त बहाने की क्या आवश्यकता है ?

वीरमदेव ने कहा—'प्रिये ! तुम राजपूत स्त्री हो ?'

'हाँ।'

'राजपूत मरने मारने को उद्यत रहते हैं ?'

'हाँ।'

जाति पर प्राण निछावर कर सकते हैं ?'

'हाँ।'

'मैं तुम्हारी वीरता की परीक्षा करना चाहता हूँ।'

राजवती ने सन्देह भरी दृष्टि से पति की ओर देखा, और धीमे से कहा—'मैं उद्यत हूँ।'

वीरमदेव ने कुछ देर सोचकर कहा—'इस युद्ध को समाप्त करना तुम्हारे वश में है।'

राजवती समझ न सकी, कि इसका क्या अभिप्राय है ; चकित-सी होकर बोली—'किस तरह ?'

'तुम्हें अपनी सबसे अधिक प्रिय वस्तु बलिदान करनी होगी।'

'वह क्या ?'

'मुझे गिरफ्तार करा दो, निर्दोष बच जायँगे।'

राजवती का कलेजा हिल गया। रोकर बोली—'प्राणनाथ ! मेरा मन कैसे मानेगा ?'

'राजपूत की आन निभाओ।'

राजवती ने कहा 'आपकी इच्छा सिर आँखों पर परन्तु यह बोझ असह्य है।'

वीरमदेव ने प्रसन्न होकर राजवती को गले लगा लिया, और मुँह चूमकर वे बाहर चले गये। राजवती भूमि पर लेटकर रोने लगी।

दो घंटे के पश्चात् दुर्ग में एक तीर गिरा, जिसके साथ कागज लिपटा हुआ था। हरदेवसिंह ने खोलकर देखा। लिखा था:—'हम सिवाय वीरमदेव

के कुछ नहीं चाहते। उसे पाकर हम तत्काल घेरा हटा लेंगे।'

यह पढ़कर हरदेवसिंह का हृदय सूख गया। वीरमदेव को बुलाकर बोले—'क्या तुमने मुसलमान सेना को कोई सन्देशा भेजा था?'

'हाँ, क्या उत्तर आया है?'

हरदेवसिंह ने कागज वीरमदेव को दिया, और वे फूट-फूटकर रोने लगे। रोते-रोते बोले, 'बेटा! यह क्या? तुमने यह क्या संकल्प किया है? अपने को गिरफ्तार करा दोगे?'

वीरमदेव ने उत्तर दिया, 'पिताजी! यह सब कुछ केवल मेरे लिए है। यदि आन का प्रश्न होता, दुर्ग की संरक्षा का प्रश्न होता, तो बच्चाबच्चा न्योछावर हो जाता, मुझे आशंका न थी। परन्तु अब कैसे चुप रहूँ, यह सब रक्तपात केवल मेरे लिए है। यह नहीं सहा जाता।'

उस रात्रि के अन्धकार में दुर्ग का फाटक खुला, और वीरमदेव ने अपने आपको मुसलमान सेनापति के अर्पण कर दिया। प्रातः काल सेना ने दुर्ग का घिराव हटा लिया।

[६]

स्त्री का हृदय भी विचित्र वस्तु है। वह आज प्यार करती है, कल दुत्कार देती है। प्यार के ख़ातिर स्त्री सब कुछ करने को तैयार हो जाती है, परन्तु प्रतिकार के लिए उससे भी अधिक भयानक कर्म्म कर बैठती है।

सुलक्षणा असामान्य स्त्री थी। उसके हृदय में बाल्यावस्था से वीरमदेव की मूर्ति विराज रही थी। उसे प्राप्त करने के लिए वह पुरुष के वेष में पठानों के साथ मिलकर वीरमदेव की सेना से लड़ी, और इस वीरता से लड़ी, कि वीरमदेव उस पर मुग्ध हो गये। परन्तु जब उसे यह पता लगा, कि मेरा स्वप्न भंग हो गया है, तो उसने क्रोध के वशीभूत होकर भयंकर कर्म्म करने का निश्चय कर लिया। अनेक यत्नों के पश्चात् वह अलाउद्दीन के पास गई। अलाउद्दीन पर जादू हो गया। सुलक्षणा अतीव सुन्दरी थी। अलाउद्दीन विलासी मनुष्य था, प्रेम कटारी चल गई। सुलक्षणा ने जब देखा कि अलाउद्दीन बस में है, तो उसने प्रस्ताव किया कि यदि आप वीरमदेव का सिर मुझे मँगवा दें, तो मैं आपको और आपके दीन को स्वीकार करूँगी। अलाउद्दीन ने इसे स्वीकार किया। इस अन्तर में सुलक्षणा के निवास के लिए पृथक् महल ख़ाली कर दिया गया।

आठ मास के पश्चात् सुलक्षणा के पास सन्देशा पहुँचा कि कल प्रातःकाल वीरमदेव का सिर उसके पास पहुँच जायगा। सुलक्षणा ने शान्ति का श्वास लिया। अब प्रेम की प्यास बुझ गई। जिसने मुझे तुच्छ समझकर ठुकराया था, मैं उसके सिर को ठोकर मारूँगी। वीरमदेव ने मुझे तुच्छ स्त्री समझा,

परन्तु यह विचार न किया कि स्त्री देश भर का नाश कर सकती है। प्रेम भयानक है, परन्तु प्रतिकार उससे भी अधिक भयंकर है। सुलक्षणा हँसी। इस हँसी में प्रतिकार का निर्दय भाव छुपा हुआ था।

विचार आया, मरने से पहले एक बार उसे देखना चाहिए। वह उस दुर्दशा में लज्जित होगा। सहायता के लिए प्रार्थना करेगा। मैं गौरव से सिर ऊँचा करूँगी। वह पृथ्वी में घुसता जायगा, मेरी ओर देखेगा परन्तु करुणा दृष्टि से। उस दृष्टि पर खिलखिलाकर हँस देने पर उसे अपनी और मेरी अवस्था का ज्ञान होगा।

इतने में बादशाह सलामत आये। सुलक्षणा के मन की इच्छा पूरी हुई। कुँआ प्यासे के पास आया। बादशाह ने देखा सुलक्षणा सादी पोशाक में है। इस पर सुन्दरता उससे फूट-फूटकर निकल रही है। हँसकर बोला—'सादगी के आलम में यह हाल है, तो ज़ेवर पहनकर बिलकुल ही ग़जब हो जायगा। कहो तबियत अच्छी है?

सुलक्षणा ने लजाकर उत्तर दिया, 'जी हाँ, परमात्मा की कृपा से।'

'तुम्हारी चीज़ कल सुबह तुम्हारे पास पहुँच जायगी।'

'मैं बहुत कृतज्ञ हूँ, परन्तु एक प्रार्थना है, आशा है आप स्वीकार करेंगे।'

अलाउद्दीन ने सुलक्षणा के चेहरे की ओर देखते हुए कहा 'क्या आज्ञा है?'

'मैं वीरमदेव से एक बार साक्षात् करना चाहती हूँ। प्रातःकाल से पहले एक बार उससे भेंट करने की इच्छा है।'

अलाउद्दीन ने सोचा, चिड़िया जाल में फँस चुकी है, जाती कहाँ है? वीरमदेव को चिढ़ाना चाहती है, इसमें हर्ज की बात नहीं। यह विचारकर उसने कहा, 'तुम्हारी बात मंजूर है, लेकिन अब निकाह जल्द हो जाना चाहिए।'

सुलक्षणा ने उत्तर दिया, 'घबराइये नहीं, अब दो चार दिन की ही बात है।'

बादशाह ने अँगूठी सुलक्षणा को दी, कि दारोगा को दिखाकर वीरमदेव से मिल लेना और आप प्रसन्न होते हुए महल को रवाना हो गये।

[७]

सुलक्षणा ने नवीन वस्त्र पहने, माँग मोतियों से भरवाई, शरीर पर आभूषण अलंकृत किये, और वह दर्पण के सामने जा खड़ी हुई। उसने अपना रूप सहस्रों बार देखा था, परन्तु आज वह अप्सरा प्रतीत होती थी। कमरे में बहुत सी सुन्दर मूर्त्तियाँ थीं, एक एक करके सब के साथ उसने अपनी तुलना की परन्तु हृदय में एक भी न जमी। अभिमान सौन्दर्य का कटाक्ष है। सुलक्षणा अपने रूप के मद में मतवाली होकर झूमने लगी।

कहते हैं, सुन्दरता जादू है, और उससे पशु भी वश में हो जाते हैं।

सुलक्षणा ने सोचा, क्या वीरमदेव हृदय से शून्य है। यदि नहीं, तो क्या वह मुझे देखकर फड़क न उठेगा ? अपनी की हुई उपेक्षाओं के लिए पश्चात्ताप न करेगा ? प्रेम सब कुछ सह लेता है, परन्तु उपेक्षा नहीं सह सकता। परन्तु थोड़े समय के पश्चात् दूसरा विचार हुआ। यह क्या ? अब प्रेम का समय बीत चुका, प्रतिकार का समय आया है। वीरमदेव का दोष साधारण नहीं है। उसे उसकी भूल सुझानी चाहिए। यह श्रृंगार किसके लिए हैं ? मैं वीरमदेव के घावों पर निमक छिड़कने चली हूँ, उसे अपनी सुन्दरता दिखाने नहीं चली।

यह सोचकर उसने अपने वस्त्र उतार दिये, और वीरमदेव को जलाने के लिए मुसल्मानी वस्त्र पहनकर पालकी में बैठ गई।

रात्रि का समय था, गगन-मण्डल तारों से जगमगा रहा था। सुलक्षणा बुरका पहने हुए क़ैदख़ाने के दरवाज़े पर गई, और बोली, 'दारोग़ा कहाँ है ?'

सिपाहियों ने कहारों के साथ शाही कर्मचारी देखकर आदर से उत्तर दिया, 'हम उन्हें अभी बुला लाते हैं।

सुलक्षणा ने नर्मी से कहा, 'इसकी आवश्यकता नहीं। मैं वीरमदेव को देखूँगी, क़ैदख़ाने का दरवाज़ा खोल दो।'

सिपाही काँप गये, और बोले, 'यह हमारी शक्ति से बाहर है।'

सुलक्षणा ने कड़ककर कहा, 'आज्ञा पालन करो। तुम रानी सुलक्षणा की आज्ञा सुन रहे हो। यह देखो शाही अँगूठी है।'

रानी सुलक्षणा का नाम राजधानी के बच्चे-बच्चे की जिह्वा पर था। कोई उसके गौरवर्ण का अनुमोदक था, कोई रसीले नयनों का। कोई गुलाब से गालों का, कोई पंखड़ियों से होठों का। जब से उसने अलाउद्दीन पर विजय पाई थी, तब से उसकी सुन्दरता की कल्पित कहानियाँ घर-घर में प्रसिद्ध हो रही थीं। उसे किसी ने नहीं देखा, परन्तु फिर भी कोई न था, जो इस बात की डींग मारकर मित्रों में प्रसन्न न होता हो कि उसने सुलक्षणा को देखा है।

सिपाहियों ने सुलक्षणा का नाम सुना, और शाही अँगूठी देखी, तो उनके प्राण सूख गये। काँपते हुए बोले, 'जो आज्ञा हो, हम हाज़िर हैं।' यह कहकर उन्होंने क़ैदख़ाने का दरवाज़ा खोल दिया और वे दीपक लेकर उस कोठरी की ओर रवाना हुए जिसमें अभागा वीरमदेव अपने जीवन की अन्तिम रात्रि के श्वास पूरे कर रहा था। सुलक्षणा के पैर लड़खड़ाने लगे। अब वह सामने होगा। जिसकी कभी मन में आराधना किया करती थी, आज उसे बध की आज्ञा सुनाने चली हूँ।

सिपाहियों ने धुँधला-सा दीपक दीवट पर रख दिया, और आप दरवाज़ा बन्द करके बाहर चले गये। सुलक्षणा ने देखा, वीरमदेव फर्श पर बैठा हुआ

है, और मृत्यु के घण्टे की प्रतीक्षा कर रहा है। सुलक्षणा के हृदय पर चोट पहुँची। यह राजपूत-कुल-भूषण है, और धर्म्म पर स्थिर रहकर जाति पर न्योछावर हो रहा है। मैं भ्रष्ट होकर अपनी जाति के एक बहुमूल्य व्यक्ति के प्राण ले रही हूँ। यह मर जायगा, तो स्वर्ग के द्वार इसके स्वागत के लिए खुल जायँगे। मैं जीवित रहूँगी, परन्तु नरक के पथ में नीची उतरती जाऊँगी। इसके नाम पर लोग श्रद्धा के पुष्प चढ़ायेंगे, मेरे नाम पर सदा धिक्कार पड़ेगी। यह मैंने क्या कर दिया। जिससे प्रेम करती थी, जिसके नाम की माला जपती थी, जिसकी मूर्ति मेरा उपास्य देव था, जिसके स्वप्न देखती थी, उसे आप कहकर मरवाने चली हूँ। जिस सिर को अपना सिरमौर समझती थी, उसे नेत्र कटा हुआ कैसे देखेंगे? सुलक्षणा की आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। प्रेम का दबा हुआ अग्नि जल उठा। सोया हुआ स्नेह जागृत हो पड़ा। हृदय में पहला प्रेम लहराने लगा, नेत्रों में पहला प्रेम झलकने लगा। सुलक्षणा की नींद खुल गई।

सुलक्षणा लड़खड़ाते हुए पैरों से आगे बढ़ी, परन्तु हृदय काँपने लगा। पैर आगे करती थी, परन्तु मन पीछे रहता था। वीरमदेव ने सिर उठाकर देखा, तो अचम्भे में आ गये, और आश्चर्य से बोले, 'सुलक्षणा! यह क्या? क्या प्रेम का प्रतिकार धर्म-कर्म-न्याय और जाति का रुधिर पान करके भी तृप्त नहीं हुआ, जो ऐसी अँधियारी रात्रि में यहाँ आई हो?'

सुलक्षणा की आँखों से आँसुओं का फ़व्वारा उछल पड़ा, परन्तु वह पी गई। उसे आज ज्ञान हुआ कि मैं कितनी पतित हो गई हूँ, तथापि सँभलकर बोली, 'नहीं, अभी मन शान्त नहीं हुआ।'

'क्या माँगती है? कहो मैं देने को उद्यत हूँ।'

'इसी से यहाँ आई हूँ, मेरे घाव का मर्हम तुम्हारे पास है।'

वीरमदेव ने समझा, मेरा सिर लेने आई है। सुनकर बोले, 'मर्हम यहाँ कहाँ है, मैं तो स्वयं घाव बन रहा हूँ, परन्तु तुम जो कहोगी, उससे पीछे न रहूँगा।'

सुलक्षणा ने अपना मुख दोनों हाथों से ढाँप लिया, वह फूट-फूटकर रोने लगी। रोने के पश्चात् हाथ जोड़कर बोली, 'तुमने एक बार मेरा हृदय तोड़ा है, अब प्रतिज्ञा भंग न करना।'

वीरमदेव को बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने मन में सोचा, हो-न-हो, यह अपने किये पर लज्जित हो रही है, और अब बचाव का उपाय ढूँढ़ती है। आश्चर्य नहीं, मुझसे क्षमा माँगती हो। गम्भीरता से पूछा, 'क्या कहती हो?'

सुलक्षणा ने विनती करके कहा, 'मेरे वस्त्र पहनो, और यहाँ से निकल जाओ।'

वीरमदेव ने घृणा से मुँह फेर लिया, और कहा, 'मैं राजपूत हूँ।'

सुलक्षणा ने रोकर उत्तर दिया, 'तुम मेरे कारण इस विपत्ति में फँसे हो। जब तक मैं स्वयं तुमको यहाँ से न निकाल दूँ, तब तक मेरे मन को शान्ति न होगी। तुमने घाव पर मर्हम रखने की प्रतिज्ञा की है। राजपूत प्रतिज्ञा भंग नहीं करते। देखो इन्कार न करो, सिर न हिलाओ, मैंने पाप किया है, उसका प्रायश्चित करने दो।'

स्त्री का अन्तिम शस्त्र रोना है। जहाँ सब यत्न व्यर्थ हो जाते हैं, वहाँ यह युक्ति सफल होती है। सुलक्षणा को रोते हुए देखकर वीरमदेव नर्म हो गये, और धीमे से बोले, 'इसमें दो बातें शङ्कनीय हैं। पहली तो यह कि तुम मुसलमान हो चुकी हो। यह वस्त्र मैं नहीं पहन सकता। दूसरे मैं निकल गया, तो मेरी विपत्ति तुम पर टूट पड़ेगी।'

सुलक्षणा ने उत्तर दिया, 'मैं अभी तक अपने धर्म पर स्थिर हूँ। यह वस्त्र तुम्हारे जलाने के लिए पहने थे, परन्तु अब अपने किये पर लज्जित हूँ। इसलिए तुम्हें यह शंका न होनी चाहिये।'

'और दूसरी बात?'

'मुझे तनिक भी कष्ट न होगा। मैं सहज में ही प्रातःकाल छूट जाऊँगी।'

सुलक्षणा ने झूठ बोला, परन्तु यह झूठ अपने लिए नहीं, दूसरे के लिए था। यह पाप था, परन्तु ऐसा पाप जिसपर सैकड़ों पुण्य निछावर किये जा सकते हैं। वीरमदेव को विवश होकर उसके प्रस्ताव के साथ सहमत होना पड़ा।

जब उन्होंने वस्त्र बदल लिये, तो सुलक्षणा ने कहा, 'यह अँगूठी दिखा देना।'

वीरमदेव बुरका पहनकर बाहर निकले। सुलक्षणा ने शान्ति का श्वास लिया। वह पिशाचिनी से देवी बनी। बुराई और भलाई में एक पग का अन्तर है।

[६]

सुलक्षणा की आँखें अब खुलीं, और उसे ज्ञान हुआ कि मैं क्या करने लगी थी, कैसा घोर पाप, कैसा अत्याचार। राजपूतों के नाम को कलङ्क लग जाता। आर्य स्त्रियों का गौरव मिट जाता। सीता रुक्मिणी की आन जाती रहती। क्या प्रेम का परिणाम कर्म धर्म का विनाश है? क्या जो प्रेम करता है, वह हत्या भी कर सकता है? क्या जिसके मन में प्रेम के फूल खिलते हैं, वहाँ उजाड़ भी हो सकती है? क्या जहाँ प्रीति की चाँदनी खिलती है, जहाँ आत्म-बलिदान के तारे चमकते हैं, वहाँ अन्धकार भी हो सकता है? जहाँ स्नेह की गंगा बहती है, जहाँ स्वार्थत्याग की तरंगें उठती हैं, वहाँ रक्त की पिपासा भी रह सकती है? जहाँ अमृत हो, वहाँ

विष की क्या आवश्यकता है ? जहाँ माधुर्य हो, वहाँ कटुता का निवास क्यों कर ! स्त्री प्रेम करती है, सुख देने के लिए। मैंने प्रेम किया, सुख लेने के लिए। प्रकृति के प्रतिकूल कौन चल सकता है ? मेरे भाग्य फूट गये। परन्तु जिनसे मेरा प्रेम है, उनका क्यों बाल बाँका हो ! प्रेम का मार्ग विकट है, इस पर चलना विरले मनुष्यों का काम है। जो अपने प्राणों को हथेली पर रख ले, वह प्रेम का अधिकारी है।

जो संसार के कठिन से कठिन काम करने को उद्यत हो, वह प्रेम का अधिकारी है। प्रेम बलिदान सिखाता है, हिसाब नहीं सिखाता। प्रेम मस्तिष्क को नहीं, हृदय को छूता है। मैंने प्रेमपथ पर पैर रक्खा, फल मुझे मिलना चाहिए। वीरमदेव ने विवाह किया, पति बना, संतानवान् हुआ, अब उसको पहले प्रेम की बातें सुनाना, मूर्खता नहीं तो और क्या है। मैंने पाप किया है, उसका प्रायश्चित्त करूँगी। रोग की औषध कड़वी होती है।

इतने में क़ैदख़ाने का दरवाज़ा खुला। पिछले पहर का समय था। आकाश से तारागण लोप हो गये थे। क़ैदख़ाने का दीपक बुझ गया, और कमरे में सुलक्षणा के निराश हृदय के समान अन्धकार छा गया। घातक धीरे-धीरे पैर रखता हुआ क़ैदख़ाने में घुसा। सुलक्षणा समझ गई, प्रायश्चित्त का समय आ गया है। उसने कम्बल को लपेट लिया, और चुपचाप लेट गई। घातक के एक हाथ में दीपक था, उसने उसे ऊँचा करके देखा, क़ैदी सो रहा है। पाप कर्म अन्धकार में ही किये जाते हैं।

जल्लाद धीरे धीरे आगे बढ़ा, और सुलक्षणा के पास बैठ गया। उसने कम्बल सरकाकर उसका गला नंगा किया, और उस पर छुरी फेर दी। सुलक्षणा ने अपने रक्त से प्रायश्चित किया। आप मरकर हृदयेश्वर को बचाया। जिसके रुधिर की प्यासी हो रही थी, जिसकी मृत्यु पर आनन्द मनाना चाहती थी, उसकी रक्षा के लिए सुलक्षणा ने अपना जीवन न्योछावर कर दिया। प्रेम के खेल निराले हैं।

पिछले पहर का समय था। उषःकाल की पहली रेखा आकाश पर टूट पड़ी। जल्लाद सिर को लपेटे हुए अलाउद्दीन के पास पहुँचा, और झुककर बोला, 'वीरमदेव का सिर हाज़िर है।'

अलाउद्दीन ने कहा, 'कपड़ा उतारो।'

जल्लाद ने कपड़ा हटाया। एक बिजली कौंध गई, अलाउद्दीन कुर्सी से उछल पड़ा। यह वीरमदेव का नहीं, सुलक्षणा का सिर था। अलाउद्दीन बहुत हताश हुआ। कितने समय के पश्चात् आशा की श्यामला भूमि सामने आई थी, परन्तु देखते-ही-देखते निराशा में बदल गई। राजपुतानी के प्रतिकार का कैसा हृदय-वेधक दृश्य था ! प्रेम-जाल में फँसी हुई हिन्दू स्त्री का प्रभाव-पूर्ण

बलिदान, पतित होनेवाले आत्मा का पश्चाताप !

यह समाचार कलानौर पहुँचा, तो इस पर शोक किया गया, और वीरमदेव कई दिन तक रोते रहे। राजवती ने एक मन्दिर बनवाकर उसके ऊपर सुलक्षणा का नाम खुदवा दिया। अब न वीरमदेव इस लोक में हैं न राजवती, परन्तु वह मन्दिर अभी तक विद्यमान है, और लोगों को राजपुतानी के भयङ्कर प्रायश्चित का स्मरण करा रहा है।

प्रश्नावली

१. इस कहानी को पढ़कर लेखक की शैली और लेख पर अपना मत प्रकट कीजिए।
२. इसमें किसका प्रायश्चित और किस प्रकार से हुआ है ?
३. वीरमदेव की वीरता पर अपना मत प्रकट कीजिए।

विद्रोही

श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

(सन् १८९१)

आप कानपुर में रहते हैं। आप हँसमुख और विनोदप्रिय स्वभाव के हैं। आपको संगीत और फोटोग्राफी से विशेष प्रेम है। आप उपन्यास और कहानी लेखक हैं। आपकी रचनाओं में पारिवारिक और गार्हस्थ जीवन का स्वाभाविक और सफल चित्रण पाया जाता है। इस विषय के आप बेजोड़ लेखक हैं। आपकी मुख्य रचनाएँ ये हैं :

उपन्यास—माँ, भिखारिणी।
गल्प-संग्रह—मधुशाला, मणिमाला।

[१]

"मान जाओ, तुम्हारे उपयुक्त यह कार्य न होगा।"

"चुप रहो—तुम क्या जानो।"

"इसमें वीरता नहीं है, अन्याय है।"

"बहुत दिनों की धधकती हुई ज्वाला आज शान्त होगी।" शक्तिसिंह ने एक लम्बी साँस फेकते हुए, अपनी स्त्री की ओर देखा।

"..."

"..."

"कलङ्क लगेगा, अपराध होगा।"

"अपमान का बदला लूँगा। प्रताप के गर्व को मिट्टी में मिला दूँगा। आज मैं विजयी होऊँगा।" बड़ी दृढ़ता से कहकर शक्तिसिंह ने शिविर के

द्वार पर से देखा। मुग़ल-सेना के चतुर सिपाही अपने-अपने घोड़ों की परीक्षा ले रहे थे। धूल उड़ रही थी। बड़े साहस से सब एक दूसरे में उत्साह भर रहे थे।

'निश्चय महाराणा की हार होगी। बाईस हज़ार राजपूतों को दिन-भर में मुग़ल-सेना काटकर सूखे डंठल की भाँति गिरा देगी।'—साहस से शक्तिसिंह ने कहा।

'भाई पर क्रोध करके देश-द्रोही बनोगे...'—कहते-कहते उस राजपूत-बाला की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं।

शक्तिसिंह अपराधी की नाईं विचार करने लगा। जलन का उन्माद उसकी नस-नस में दौड़ रहा था। प्रताप के प्राण लेकर ही छोड़ेगा, ऐसी प्रतिज्ञा थी। नादान दिल किसी तरह न मानेगा। उसे कौन समझा सकता था ?

रण-भेरी बजी।

कोलाहल मचा। मुग़ल-सैनिक मैदान में एकत्रित होने लगे। पत्ता-पत्ता खड़खड़ा उठा।

बिजली की भाँति तलवारें चमक रही थीं। उस दिन सब में उत्साह था। युद्ध के लिए भुजाएँ फड़कने लगीं।

शक्तिसिंह ने घोड़े की लगाम पकड़कर कहा—'आज अन्तिम निर्णय है, मरूँगा या मारकर ही लौटूँगा !'

शिविर के द्वार पर खड़ी मोहिनी अपने भविष्य की कल्पना कर रही थी। उसने बड़ी गम्भीरता से कहा—'ईश्वर सद्‌बुद्धि दे, यही प्रार्थना है।'

[२]

एक महत्त्वपूर्ण अभिमान के विध्वंस करने की तैयारी थी। प्रकृति काँप उठी। घोड़ों और हाथियों के चीत्कार से आकाश थरथरा उठा। बरसाती हवा के थपेड़ों से जङ्गल के वृक्ष रणनाद करते हुए झूम रहे थे। पशु-पक्षी भय से त्रस्त होकर आश्रय ढूँढ़ने लगे। बड़ा विकट समय था।

उस भयानक मैदान में राजपूत-सेना मोरचाबन्दी कर रही थी। हल्दीघाटी की ऊँची चोटियों पर भील लोग धनुष चढ़ाये उन्मत्त के समान खड़े थे।

'महाराणा की जय !'—शैलमाला से टकराती हुई ध्वनि मुग़ल-सेनाओं में घुस पड़ी। युद्ध आरम्भ हुआ। भैरवी रणचण्डी ने प्रलय का राग छेड़ा। मनुष्य हिंस्र जन्तुओं की भाँति अपने-अपने लक्ष्य पर टूट पड़े। सैनिकों के निडर घोड़े हवा में उड़ने लगे। तलवारें बजने लगीं। पर्वतों के शिखरों पर से विषैले बाण मुग़ल-सेना पर बरसने लगे। सूखी हल्दी-घाटी में रक्त की धारा बहने लगी।

महाराणा आगे बढ़े। शत्रु-सेना का व्यूह टूटकर तितर-बितर हो गया। दोनो ओर के सैनिक कट-कटकर गिरने लगे।

देखते-देखते लाशों के ढेर लग गये।

भूरे बादलों को लेकर आँधी आई। सलीम के सैनिकों को बचने का अवकाश मिला। मुग़लों की सेना में नया उत्साह भर गया। तोप के गोले उथल-पुथल करने लगे। धाँय-धाँय करती बन्दूक़ से निकली हुई गोलियाँ दौड़ रही थीं—ओह! जीवन कितना सस्ता हो गया था!

महाराणा शत्रु-सेना में सिंह की भाँति उन्मत्त होकर घूम रहे थे। जान की बाज़ी लगी थी। सब तरफ से घिरे थे। हमला-पर-हमला हो रहा था। प्राण सङ्कट में पड़े। बचना कठिन था। सात बार घायल होने पर भी पैर उखड़े नहीं, मेवाड़ का सौभाग्य इतना दुर्बल नहीं था।

मानसिंह की कुमंत्रणा सिद्ध होने वाली थी। ऐसे आपत्तिकाल में वह वीर सरदार सेना-सहित वहाँ कैसे आया? आश्चर्य से महाराणा ने उसकी ओर देखा—वीर मन्नाजी ने उनके मस्तक से मेवाड़ के राजचिह्नों को उतारकर स्वयं धारण कर लिया। राणा ने आश्चर्य और क्रोध से पूछा—'यह क्या?'

'आज मरने के समय एक बार राज-चिह्न धारण करने की बड़ी इच्छा हुई है।'—हँसकर मन्नाजी ने कहा। राणा ने उस उन्माद-पूर्ण हँसी में अटल धैर्य देखा।

मुग़लों की सेना में से शक्तिसिंह इस चातुरी को समझ गया। उसने देखा घायल प्रताप रण-क्षेत्र से जीते-जागते निकले चले जा रहे हैं। और वीर मन्नाजी को प्रताप समझकर मुग़ल उधर ही टूट पड़े हैं।

उसी समय दो मुग़ल-सरदारों के साथ महाराणा के पीछे-पीछे शक्तिसिंह ने अपना घोड़ा छोड़ दिया।

[३]

खेल समाप्त हो रहा था। स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर सन्नाटा छा गया था। जन्मभूमि के चरणों पर मर मिटनेवाले वीरों ने अपने को उत्सर्ग कर दिया था। बाइस हज़ार राजपूत वीरों में से केवल आठ हज़ार बच गये थे।

विद्रोही शक्तिसिंह चुपचाप सोचता हुआ अपने घोड़े पर चढ़ा चला जा रहा था। मार्ग में शव कटे पड़े थे—कहीं भुजाएँ शरीर से अलग पड़ी थीं, कहीं धड़ कटा हुआ था, कहीं ख़ून से लथ-पथ मस्तक भूमि पर गिरा हुआ था। कैसा परिवर्तन है!—दो घड़ियों में हँसते-बोलते और लड़ते हुए जीवित पुतले कहाँ चले गये? ऐसे निरीह जीवन पर इतना गर्व!

शक्तिसिंह की आँखें ग्लानि से छलछला पड़ीं—

'ये सब भी राजपूत थे। मेरी ही जाति के ख़ून थे ! हाय रे मैं ! मेरा प्रतिशोध पूरा हुआ—क्या सचमुच पूरा हुआ ? नहीं, यह प्रतिशोध नहीं था, अधम शक्त ! यह तेरे चिर-कलङ्क के लिए पैशाचिक आयोजन था। तू भूला, पागल ! तू प्रताप से बदला लेना चाहता था—उस प्रताप से जो अपनी 'स्वर्गादपिगरीयसी' जननी जन्म-भूमि की मर्यादा बचाने चला था ! वह जन्म-भूमि जिसके अन्न-जल से तेरी नस भी फूली-फली हैं। अब भी माँ की मर्यादा का ध्यान कर।'

सहसा धाँय-धाँय गोलियों का शब्द हुआ। चौंककर शक्तिसिंह ने देखा—दोनो मुग़ल-सरदार प्रताप का पीछा कर रहे थे। महाराणा का घोड़ा लस्त-पस्त होकर झूमता हुआ गिर रहा है। अब भी समय है। शक्तिसिंह के हृदय में भाई की ममता उमड़ पड़ी।

एक आवाज़ हुई—रुको !

दूसरे क्षण शक्तिसिंह की बन्दूक़ छूटी, पलक मारते दोनों मुगल-सरदार जहाँ-के-तहाँ ढेर हो गये। महाराणा ने क्रोध से आँख चढ़ाकर देखा, वे आँखें पूछ रही थीं—क्या मेरे प्राण पाकर निहाल हो जाओगे ? इतने राजपूतों के ख़ून से तुम्हारी हिंसातृप्ति नहीं हुई ?

किन्तु यह क्या शक्तिसिंह तो महाराणा के सामने नतमस्तक खड़ा था। वह बच्चों की तरह फूट-फूट कर रो रहा था। शक्तिसिंह ने कहा—'नाथ ! सेवक अज्ञान में भूल गया था, आज्ञा हो तो इन चरणों पर अपना शीश चढ़ाकर पद-प्रक्षालन कर लूँ, प्रायश्चित्त कर लूँ !'

राणा ने अपनी दोनो बाँहें फैला दीं। दोनो के गले आपस में मिल गये, दोनो की आँखें स्नेह की वर्षा करने लगीं। दोनो के हृदय गद्‌गद् हो गये।

इस शुभ मुहूर्त्त पर पहाड़ी वृक्षों ने पुष्प वर्षा की, नदी की कल-कल धाराओं ने वन्दना की।

प्रताप ने उन डबडबाई हुई आँखों से ही देखा—उनका चिर-सहचर प्यारा 'चेतक' दम तोड़ रहा है। सामने ही शक्तिसिंह का घोड़ा खड़ा था।

शक्तिसिंह ने कहा—'भैया ! अब आप विलम्ब न करें, घोड़ा तैयार है।'

राणा शक्तिसिंह के घोड़े पर सवार होकर, उस दुर्गम मार्ग को पार करते हुए निकल गये।

[४]

श्रावण का महीना था।

दिन-भर की मार-काट के पश्चात्, रात्रि बड़ी सूनसान हो गई थी। शिविरों में से महिलाओं के रोदन की करुणध्वनि हृदय को हिला देती थी।

हज़ारों सुहागिनियों के सुहाग उजड़ गये थे। उन्हें कोई ढाढ़स बँधाने

वाला न था ; था तो केवल हाहाकार, चीत्कार, कष्टों का अनन्त पारावार !

शक्तिसिंह अभी तक अपने शिविर में नहीं लौटा था। उसकी पत्नी भी प्रतीक्षा में विकल थी, उसके हृदय में जीवन की आशा-निराशा क्षण-क्षण उठती-गिरती थी।

अँधेरी रात में काले बादल आकाश में छा गये थे। एकाएक उस शिविर में शक्तिसिंह ने प्रवेश किया। पत्नी ने कौतूहल से देखा, उसके कपड़े ख़ून से तर थे।

'प्रिये !'

'नाथ !'

'तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हुई—मैं प्रताप के सामने परास्त हो गया !'

प्रश्नावली

१. शक्तिसिंह कौन था ? राणाप्रताप से उसे क्यों जलन थी ?
२. शक्तिसिंह के चरित्र के गुण-दोष की व्याख्या करो और मन्नासिंह के चरित्र से उसकी तुलना करो।
३. निम्नलिखित उद्धरणों का प्रसंग के साथ मतलब लिखिये—
   क. एक महत्व-पूर्ण अभिमान के विध्वंस करने की तैयारी की।
   ख. मेवाड़ का सौभाग्य इतना दुर्बल नहीं था।
   ग. मानसिंह की कुमंत्रणा सिद्ध होनेवाली थी।
   घ. 'आज मरने के समय एक बार राजचिह्न धारण करने की इच्छा हुई है।'
४. किन परिस्थितियों ने शक्तिसिंह के मनोभावों में परिवर्तन किया और उसने क्यों कहा, 'मैं प्रताप के सामने परास्त हो गया।'
५. शक्तिसिंह और उसकी पत्नी में किस बात पर मत-भेद था ?

ब्याह

श्री जैनेन्द्रकुमार

(सन् १९०५)

आप दिल्ली निवासी हैं। आपका जन्म सन् १९०५ के लगभग हुआ। आप प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हैं। अपनी प्रतिभा के बल से ही आपने उच्चकोटि के कहानी लेखकों में स्थान प्राप्त कर लिया है। आप अंग्रेज़ी कहानी-कला के भी मर्मज्ञ हैं। कहानी लिखने में आपकी एक विशेष शैली है। आप विषय का इतना अच्छा प्रतिपादन करते हैं कि उसकी प्रतिमूर्ति खड़ी कर देते हैं।

आपकी कहानियों के संग्रह फाँसी, एक रात, दो चिड़ियाँ और 'वातायन' नाम से प्रकाशित हुए हैं। आपके 'परख' नामक उपन्यास पर हिन्दुस्तानी एकाडेमी ने ५००) पुरस्कार दिया था। आपके अभी तक त्याग-पत्र, सुनीता, कल्याणी आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

[१]

बड़े भाई के बाद अब घर का बोझ मुझ पर पड़ा, लेकिन मुझे इसमें कुछ दिक्कत नहीं हुई। सेशन जज हूँ, ७००) मासिक पाता हूँ—और घर में मुक़ाबले को कोई नहीं है। मा सेवा और आज्ञानुसरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानती, और पत्नी जितनी ही कम शिक्षिता है, उतनी ही ज़्यादा पतिप्राणा है।

किन्तु भाई साहब जिसे अपने अन्तिम समय में ख़ास तौर से बोझ बतला कर मुझे सौंप गये उसके सम्बन्ध में मुझे अवश्य सतर्क और चिन्तित रहना पड़ता है। ललिता मैट्रिक पास करने के साथ अपना सोलहवाँ साल पार कर चुकी है। भाई साहब, अपने जीवन-काल में इसे जहाँ तक हो वहाँ तक पढ़ाना चाहते थे। शायद कारण यह हो कि ख़ुद बहुत कम पढ़े थे। किन्तु, आख़िरी समय, आश्चर्य है, उन्होंने ललिता की शिक्षा के बारे में तो कुछ हिदायत न दी, कहा, तो यह कहा कि 'देखो, ललिता का ब्याह जल्दी कर देना। मेरी बात टालना मत, भूलना मत।'

अब भाई साहब की अनुपस्थिति में ललिता को देखते ही, उनके उपर्युक्त शब्द बड़ी बेचैनी के साथ भीतर विद्रोह-सा करने लगते। मैं उन्हें भीतर ही भीतर खूब उलटता-पलटता हूँ, जानना चाहता हूँ—यह क्यों कहा?—मेरा क्या कर्तव्य है?

ललिता को बड़ी जिज्ञासा, बड़ी चिन्ता से देखता हूँ। शायद उन शब्दों का ललिता के व्यक्तित्व से कोई सामञ्जस्य है। फिर रह-रह कर यह बात मन में आती है—असम्भव है, भाई साहब ने समझा हो, मैं पीछे ललिता को ठीक प्यार, सँभाल और अपनेपन के साथ नहीं रख पाऊँगा, और इसीलिए ऐसा कहा हो! जब यह बात मन में उठती है तब भाई साहब पर बड़ा क्रोध आता है। उन्होंने बे-भरोसे का आदमी समझा!—जैसे मैं उनका सगा भाई, उन्हीं का पालापोसा और पढ़ाया-लिखाया नहीं हूँ! परन्तु ऐसी बातें सोचकर मैं ललिता के ब्याह के बारे में व्यग्र और उद्विग्न नहीं हो उठता। सोचता हूँ, भाई साहब की मंशा पूरी करने का काम अब मुझपर है—ललिता को खूब पढ़ाऊँगा, और खूब धूम से उसका विवाह करूँगा। दीया लेकर ऐसा लड़का ढूँढूँगा जो दुनिया में एक हो। हमारी ललिता ऐसी जगह जायगी कि भैया भी स्वर्ग में ख़ुशी से फूल उठेंगे—पर जल्दी नहीं।

इस तरह ललिता का पढ़ना जारी है। बी० ए० में पहुँचेगी, तब कहीं ब्याह की बात सोचूँगा।

[२]

ललिता भी हमारे घर में एक अजीब लड़की है। कुछ समझ में ही नहीं

आता। जाने कैसे मैट्रिक फ़र्स्ट क्लास में पास कर गई। जब पढ़ने में इतनी होशियार है तब व्यवहार में क्यों ऐसी अल्हड़ है। उसे किसी बात की समझ ही नहीं है। लोग कुछ कहें, कुछ समझें—जो मन में समाया उसे वह कर ही गुज़रती है। नौकर हों सामने, और चाहे अतिथि बैठे हों, उसे ज़ोर की हँसी आती है तब वह कभी उसे न रोक सकेगी। गुस्सा उठेगा तब उसे भी बेरोक निकाल बाहर करेगी। सबके सामने बे-हिचक मुझ चाचा को चूमकर प्यार करने लगती है। और मेरी ही तनिक-सी बात पर ऐसा तनक उठती है कि बस! हँसती तो वह खूब है, गुस्सा तो उसका आठवाँ हिस्सा भी नहीं करती होगी; हाँ, जब करती है तब करती ही है, फिर चाहे कोई हो, कुछ हो!

मै चाहता हूँ, वह कुल-शील का, सभ्यता-शिष्टता का, अदब-क़ायदे का छोटे-बड़े का व्यवहार में सदा ध्यान रक्खे। पर उससे इन सब बातों पर निबन्ध चाहे मुझसे भी अच्छा लिखवा लो, इन सबका वह ध्यान नहीं रख सकती। नौकरों से अपनापन जोड़ेगी, हमसे जैसे बची-बची रहेगी। सहपाठियों और अँगरेज़ी जानने वालों से हिन्दी के सिवा और कुछ न बोल सकेगी, पर नौकरो और देहातियों से अँग्रेज़ी में ही बोलेगी। नौकरों को तो कभी-कभी अँगरेजी में पाँच-पाँच मिनट के लेक्चर सुना देती है, मानो दुनिया में यही उसकी बात को 'हृदयङ्गम' करनेवाले हों! समकक्षियों और बड़ों में धीर-गम्भीर और गुमसुम रहती है, जैसे सिर में विचार ही विचार हैं, ज़बान नहीं है। छोटों में ऐसी खिली-खिली और चहकती फिरती है, जैसे उसका सिर खाली है, कतरने को बस ज़बान ही है।

मिसरानी को बहुत ही तङ्ग करती है। पर मुश्किल यह है कि मिसरानी को इस बात की बिलकुल शिकायत नहीं है। इस कारण मुझे उसको डाँटने-धमकाने को पूरा मौक़ा नहीं मिलता। वह बे-मतलब चौके में घुस जाती है; कभी उँगली जला देती है, कभी नमक अपने हाथ से डालने की ज़िद करके दाल में अधिक नमक डाल देती है, आटा, सानते-सानते, जब बहा-बहा फिरने के लायक़ हो जाता है तब मिसरानी से सहाय्य की प्रार्थना करती है और मिसरानी उसके दायें कान को हँसते-हँसते अपने बाँयें हाथ से ज़रा टेढ़ा तिरछा करके आटा ठीक कर देती है। मालकिन के मुलायम कानों को मसलने का जब अधिकार-संयोग मिले तब उस अवसर को मिसरानी जी जान-बूझकर क्यों खोयें?—उन्हें दिक़ होना पड़ता है तो हो।

लेकिन मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता, जैसे जहाँ जायगी वहाँ इसे रोटी ही बनानी पड़ेगी? फिर क्यों फ़िज़ूल ऐसे कामों में हाथ डालती है?—यह तो होता नहीं कि टेनिस का अभ्यास बढ़ा ले, शायद उसी में चमक उठे, और अख़बारों में नाम हो जाय, क्या ताज्जुब कोई 'कप' ही मिल जाय। इसलिए

मैं उसे काफ़ी गुरु-मुद्रा के साथ धमका देता हूँ। पर वहीं जवाब दे देती है, अगर मेरी निज की लड़की इस तरह मुझे जवाब देती तो मैं थप्पड़ से उसका मुँह लाल कर देता। फिर ललिता के मुँह से जवाब सुनकर न मुझे ज़्यादा गुस्सा होता है, न बहुत अचरज। गुस्सा होता भी है तो मैं कुछ कर भी तो नहीं सकता। मेरे समीप वह भाई साहब की स्मृति है, उनकी प्रतिमूर्ति है, इसलिए उसका जवाब सुनकर मैं चुप रह जाता हूँ।

यह लड़की ज़रा भी दुनिया नहीं समझती। यह समझती है कि उसकी कोर्स की किताबों में, उसके कल्पनाक्षेत्र में ही सारी दुनिया बन्द है। उससे बहस कौन करे ? कुछ समझती ही नहीं, करे अपने जी की। पर डिक ?

डिक हमारे ज़िले के डिप्टी कमिश्नर का लड़का है। अभी एक वर्ष से विलायत से आया है। आक्सफ़र्ड में पढ़ता है। पिता ने हिन्दुस्तान देखने के लिए बुलाया है। पिता की राय है, डिक आई० सी० एस्० में जाय।

बड़ा अच्छा है। डिक को घमण्ड नाम को भी नहीं है। बड़ा मृदुभाषी, सुशील, शिष्ट। वह हर तरह से मुझे सुन्दर जँचता है।

लेकिन ललिता तो डिक से सदा दूर-दूर रहती है। यह नहीं कि उससे बोलती नहीं, मौक़े पर खूब बोलती है। पर उस बोलने को बीच में लाकर ही वह अपने और डिक के बीच अनुल्लङ्घनीय अन्तर डालने का उपक्रम करती रहती है। डिक से ही यह सब सुना है। यह भी जानता हूँ कि डिक इस अन्तर को जितना ही अनुल्लङ्घनीय पाता है, उतना ही देखता है कि एक अनिश्चित चाह उसे और विवशता से चाबुक मार-मार कर भड़का रही है।

[२]

इधर ललिता में एक अन्तर देख पड़ने लगा है। एक ओर हँसना एकदम कम हो गया है, दूसरी ओर वक्त-बे-वक्त पढ़ना-लिखना होने लगा है। अब वह बहुत पढ़ती है। मानो जी उचाट रहता हो, और उसी को ज़बर्दस्ती लगाये रखने के लिए ये सब प्रयत्न और प्रपञ्च किये जाते हों।

इधर एक ख़बर डिक के बारे में भी लगी है, कुछ दिनों से उसका इधर आना कम हो गया है। उस दिन अचानक यह ख़बर मिली कि उसने एक हिन्दी-ट्यूटर लगा लिया है, और हिन्दी-प्रवेशिका के पहले भाग को ख़तम कर डालने में दत्त-चित्त है।

ये लक्षण बड़े शुभ मालूम होते हैं, दोनों में कुछ खटपट हो गई है। एक दूसरे को नज़दीक लाने में कलह की इन छोटी-छोटी बातों से अचूक और अमोघ चीज़ कोई नहीं। मालूम होता है, ललिता ने अपनी झिड़की से डिक को ठीक मार्ग दिखा दिया है। इसी से डिक उस पर चलने की तैयारी कर रहा है।

इतना सब कुछ समझने पर भी ललिता की ओर से मुझे डर ही लगा रहता है। मालूम नहीं, उसके जी में कब क्या समा उठे। मालूम नहीं, वह किस लोक में रहती है, किस प्रणाली से सोचती है। उसके जी का भेद मैं नहीं समझ पाता।

मैं कचहरी से आकर पूरे कपड़े तक नहीं उतार पाया कि ललिता बे-धड़क मेरे कमरे में आकर अपनी मेज़ की शिकायत करने लगी।

'चाचाजी, मैंने कितनी बार आप से मेज़ ठीक करवा देने के लिए कहा ? आप ध्यान नहीं देते यह कैसी बात है ?'

मैं मानता हूँ, मुझसे कई बार कहा गया है, फिर भी मैंने कहा—अच्छा-अच्छा, अब मैं करवा दूँगा।

'कब से अच्छा-अच्छा ही हो रहा है। अभी करवा के दीजिये।'

'अभी ? अच्छा, अभी सही।'

'सही वही नहीं। मैं अभी करवा लूँगी। आप तो यों ही टालते रहते हैं।'

'अब नहीं टालूँगा। बस ?'

'नहीं।'

'अभी मिस्त्री काम से लौटे होंगे ? अभी कौन मिलेगा ?'

'मिस्त्री दस मिल जायँगे। मिल जायँ तो मैं लगा लूँ ?'

'हाँ-हाँ लगा लो।'

यह कहकर उसे टाला, कपड़े उतारे, हाथ-मुँह धोया और अख़बार लेकर ईज़ी चेयर पर पड़ गया।

कुछ देर बाद खुट-खुट की आवाज़ कानों में पड़ी। 'नेशन' के अग्रलेख का तर्क मुझे ठीक नहीं लग रहा था। उसे पढ़ते-पढ़ते ऊँघी-सी आने लगी थी, तभी खुट-खुट का शब्द सुनकर मैं अन्दर पहुँचा।

'यह क्या है, ललिता ?' कहता हुआ मैं उसके कमरे में चला गया, देखा, एक बढ़ई काम में लगा है।

'आपने कहा था न कि मिस्त्री लगा लेना।'

कहा था तो कहा होगा—पर मुझे उसकी याद नहीं थी। बोला—

'तो तुम लपक कर उसे बुला भी लाईं।—मानो तैयार ही बैठा था।'

'नहीं। जाते देखा, बुला लिया।'

'दिन भर काम करके घर लौट रहा होगा—सो तुमने बुला लिया। बेचारे मज़दूर पर कोई दया नहीं करता। तुम्हारा क्या ?'

'कोई बेगार थोड़े ही है। उजरत भी तो दी जायगी। यह तो इसमें ख़ुश ही होगा।' मुड़कर उसने मिस्त्री से पूछा, 'क्यों, बाबा ?'

मिस्त्री बुड्ढा सिक्ख था। बड़ी लम्बी सफेद दाढ़ी थी। सफेद ही साफ़ा

था, आँखों में स्नेह और दीनता का रस था। ललिता का प्रश्न सुनकर उसने ऐसे देखा, मानो उसकी आँखों में की दीनता और स्नेह एक-दम छलक आये हैं। ललिता के मुँह से निकले 'बाबा' सम्बोधन की मृदुता ने उसके प्राणों में सुख की एक सिहर-सी लहरा दी। उसने कहा—

'नहीं, बेटी! मुझे सबेरे से कोई काम नहीं मिला। मेरा घर यहाँ नहीं है। बहुत दूर है। पेशावर तुमने सुना होगा, उसके पास अटक है, अटक के पास मेरा घर है। दरिया सिंध उसको छूकर बहता है। मैं यहाँ आज ही आया हूँ। काम न मिलता तो न जाने मेरा क्या होता?'

दरिया सिन्ध के किनारे-वाले हिन्दुस्तान के छोर पर के गाँव से यह बुड्ढा सिक्ख, नर्मदा के किनारे के, हिन्दुस्तान के बोचो-बीच बसे हुए इस होशङ्गाबाद में, इस प्रकार बे-पैसे, किस आफ़त का मारा आ पहुँचा, यह सब जानना मुझे आवश्यक न जान पड़ा। पर ललिता ने कुरेद-कुरेद कर उसकी कहानी पूछी। मैंने भी सुनी।

जब वह बुड्ढा नहीं था, जवान था,—तब की बात है। दरिया में बाढ़ आ गई। झोपड़ा बह गया, खेत डूब गये। वह, उसकी घरवाली, और उसका एक छोटा लड़का इन तीनो ने एक दूर गाँव में जाकर आश्रय लिया। पर खाँयँ कहाँ से? जो थोड़ा-बहुत नक़द बाढ़ के मुँह से बचाकर ले आ सके थे, उससे ही बैठ कर कब तक खायँगे? ऐसी ही चिन्ता के समय उसे एक तरकीब सुझाई गई। मदरास चला जाय तो वहाँ बहुत आदमियों की ज़रूरत है, खूब तनख्वाह मिलती है, और सहूलियतें हैं। ख़ूब आराम है। थोड़े ही दिनों में माला-माल होकर लौट सकेगा। मदरास पहुँचा,—वहाँ से फ़िजी। घर से निकलने पर यह अब उसके बस का न रह गया था कि वह फ़िजी न जाय। तब फ़िजी न जाता तो शायद जेल जाना पड़ जाता, ताज्जुब नहीं जान से हाथ धो बैठने का ही मौक़ा आ जाता। फ़िजी में काम किया। पीछे से वहाँ कमाने का मौक़ा हो सकता था, पर बच्चे की और घरवाली की याद ने वहाँ रहने न दिया। जहाज़ के टिकट भर का पैसा पास होते ही वह चल दिया। मदरास आया। आरी और बसूलों की सहायता से उसने मदरास में एक महीने तक अपना पेट भरा और उनसे ही एक महीने में बम्बई आने तक का किराया जुटाया। बम्बई में जैसे-तैसे पेट तो भर सका, लाख कम खाने और हज़ार ज़्यादे काम करने पर भी वह ऊपर से कुछ न जुटा सका। आख़िर लाचार बे-टिकट चल दिया। होशंगाबाद में टिकटवालों ने उतार दिया। वहाँ से वह अपने औज़ार सँभाले चला आ रहा था। बहुत समझो, उसकी वह पूँजी रेलवालों ने छोड़ दी।

कहानी सुनकर बुड्ढे पर दया करने को मेरा जी चाहा। पूछा—

'ललिता, इसे कितने में तय किया था ?'

'ठहराया तो कुछ नहीं।'

'नहीं ठहराया !'

'नहीं।'

'अच्छा जो ठहराया उससे एक आना ज़्यादा देना।'

मुझसे 'अच्छा' कहकर सिक्ख से उसने पूछा—

'बाबा, तुम यहाँ रहोगे ?'

'ना, बेटी।'

'क्यों, बाबा ?'

'घर तो अपना नहीं है। घर क्या छोड़ा जाता है ? फिर बच्चे को कब से नहीं देखा। बीस साल हो गये।'

'बाबा, क्या पता वह मिलेगा ही। बीस बरस थोड़े नहीं होते।'

'हाँ, क्या पता ! पर मैंने अपने हिस्से की काफ़ी आफ़त भुगत ली है। परमात्मा अब इस बुड्ढे के बुढ़ापे में उसका बचा-खुचा नहीं छीन लेंगे। मुझे पूरा भरोसा है, वह मुझे ज़रूर मिलेगा, हाँ उसकी माँ तो शायद ही मिले।'

ललिता के ढङ्ग से जान पड़ा, वह इतनी थोड़ी-सी बातें करके सन्तुष्ट नहीं है। वह उस बुड्ढे से और बातें करना चाहती है। पर मुझे तो समय वृथा नहीं गँवाना था। मैं फिर एक आना ज़्यादे देने की हिदायत देकर चला आया।

[४]

वह बुड्ढा तो धीरे-धीरे मेरे घर से हिलने लगा। ज़्यादातर घर पर दीखता। किसी न किसी चीज़ को ठीक करता रहता। उसने घर के सारे बक्सों को पालिश से चमका कर नया कर दिया। नई-नई चीज़ें भी बहुत सी बना दीं। वह ललिता का विशेष कृपापात्र था, और ललिता उसकी विशेष कृतज्ञतापात्र थी। उसने एक बड़ा सुन्दर सिंगारदान ललिता को बना कर दिया। एक कैश-बक्स। मेरे लिए हैट-स्टैंड, खूँटियाँ वग़ैरह वग़ैरह चीज़ बनाकर दीं। मैंने भी समझा कि वह अपने लिए इस तरह ख़्वामख़्वाह मज़दूरी बढ़ा लेता है,—चलो इसमें ग़रीब का भला ही है।

लेकिन हर एक चीज़ की हद होनी चाहिये। ग़रीब की भलाई की जहाँ तक बात है, वहाँ तक तो ठीक। पर उनसे दोस्ती-सी पैदा कर लेना, उनको अपना ही बना बैठना,— यह भी कोई बुद्धिमानी है ! पर अल्हड़ ललिता यह कुछ नहीं समझती। उसका तो ज़्यादा समय अब इस बुड्ढे से ही छोटी-मोटी चीज़ें बनवाने में, उससे बातें करने में बीतता है।

मैं यह भी देखता हूँ कि बुड्ढा दीनता और उम्र के अतिरिक्त और किसी बात में बुड्ढा नहीं है। बदन से ख़ूब हट्टा-कट्टा है, ख़ूब लम्बा-चौड़ा है।

दाढ़ी-मूँछों से भरा हुआ उसका चेहरा एक प्रकार की शक्ति से भी है भरा। यह मुझे अच्छा नहीं लगता। इसलिए मैंने उसे एक दिन बुलाकर कहा—बुड्ढे, अब गाँव कब जाओगे?'

'गाँव?'—कैसे जाऊँगा जी, गाँव?'

'क्यों?'

'जी।'

'देखो, थोड़ी बहुत मदद की ज़रूरत हो, मैं कर दूँगा। पर तुम्हें अब अपने बच्चे के पास जाना चाहिए। और यहाँ जब काम होगा, बुला लूँगा, तुम्हारा फ़िज़ूल आना-जाना ठीक नहीं।'

बुड्ढा इस पर कुछ न बोला—मानो उसे स्वीकार है।

उसके बाद से वह घर पर बहुत कम दिखाता। एक बार आया तब मैंने जवाब तलब किया—

'बुड्ढे! क्यों आये?—क्या काम है?'

'जी, बिटिया ने बुलवाया था।'

'बिटिया,—कौन बिटिया?'

'वही, आपकी।'

'देखो, बुड्ढे, गुस्ताख़ी अच्छी नहीं होती।'

इस पर बुड्ढा बहुत-कुछ गिड़गिड़ाया, 'गुस्ताख़ी नहीं, गुस्ताख़ी नहीं,' और उसने बहुत सी शपथ खाकर विश्वास दिलाया कि वह कभी अपने को हमारे बराबर नहीं समझ सकता, 'आप तो राजा हो, हम तो किंकर नाचीज़ हैं' और 'वह तो मालकिन हैं, साक्षात् राजरानी हैं, आदि-आदि,'—और अन्त में धरती पर माथा टेककर वह चला गया।

बुड्ढे की ओर से मुझे मुक्ति मिली। पर उसी रात को मेरे पास आया डिक। उसने बताया कि वह हिन्दी शिक्षावली दो भाग ख़तम कर चुका है; वह और भी जो ललिता की आशा हो, करने को तैयार है; वह अब जल्दी ही इँग्लैंड वापस चला जायगा, पर ललिता के बिना कैसे रहेगा; उसने अपने पैसे के, अपनी योग्यता के, अपनी स्थिति के, अपने बड़प्पन के वर्णन संक्षेप में पेश किये; अपना प्रेम जतलाया और उसके स्थायित्व की शपथ खाई; इस तरह अपना सम्पूर्ण मामला मेरे सामने रखने के बाद मेरी सम्मति चाही। पर मेरी सम्मति का प्रश्न नहीं था। मेरी तो उसमें हर तरह की सम्मति थी। मैंने उसे आश्वासन दिया—'कल ललिता से ज़िक्र करूँगा।'

वह बोला—'देखिए, मैं नहीं जानता क्या बात है। पर मुझे ललिता अवश्य मिलनी चाहिये। मेरी उससे बातें हुई हैं, ख़ूब हुई हैं। वह मेरे गोरेपन से घबड़ाती हैं। पर मैं उससे भी कह चुका हूँ, आप से कहता हूँ कि इसमें मेरा

दोष तो है नहीं। फिर हिन्दी मैं सीखता जा रहा हूँ। वह कहती है, मुझमें और उसमें बहुत अन्तर है। मैं मानता हूँ—है। न होता तो बात ही क्या थी। पर हम एक हुए तो मैं कहता हूँ, सब अन्तर हवा हो जायगा। वह जो चाहेगी सो हाँ करूँगा।'

मैंने उसे विश्वास दिलाया, 'मैं अपने भरसक करूँगा।'

उसने कहा, 'ललिता के भारतीय वातावरण में पले होने के कारण यह बिलकुल स्वाभाविक है कि वह इस सम्बन्ध में अपने अभिभावक से आज्ञा प्राप्त करे।' इसीलिए उसने मुझसे कहना ठीक समझा। मैंने फिर उसे वही विश्वास दिलाया और वह मेरी चेष्टा में सफलता की कामना मनाता हुआ चला गया।

[५]

अगले रोज़ ललिता से ज़िक्र छेड़ा। मैंने कहा—

'ललिता, रात में डिक आया था।'

ललिता चुप थी।

'तुम जानती हो, वह क्या चाहता है? तुम यह भी जानती होगी कि मैं क्या कहता हूँ?'

वह चुप थी। वह चुप ही रही।

मैंने सब ऊँचा-नीचा उसे बताया। अपनी स्पष्ट इच्छा,—यदि आज्ञा हो सके तो आज्ञा,—जतला दी; ऐसे सम्बन्धों का औचित्य प्रतिपादन किया; संक्षेप में सब कुछ कहा। मेरी बात ख़तम न हो गई तब तक वह गम्भीर मुँह लटकाये, एक ध्यान एक मुद्रा से, निश्चल खड़ी रही। मेरी बात ख़तम हुई कि उसने पूछा—

'बाबा को आने से आपने मना किया था?'

कहाँ की बात कहाँ? मैं समझ नहीं पाया।

'कौन बाबा?'

'वही—बुड्ढा, सिक्ख, मिस्त्री।'

'हाँ, मैंने समझाया था, उसे फ़िज़ूल आने की ज़रूरत नहीं।'

'तो उनसे (डिक से) कहिये, मैं अपने को इतनी सौभाग्यवती नहीं बना सकती। मुझ नाचीज़ की फिक्र छोड़े, क्योंकि भाग्य में मुझे नाचीज़ ही बने रहकर रहना लिखा है।'

मुझे बड़ा धक्का लगा। मुँह से निकला—

'ललिता!'

'उनसे कह दीजिएगा—बस।' यह कहकर वह चली गई। मैं कुछ न समझ सका।

अगले रोज़ कचहरी से लौटा तो घर पर ललिता न थी। कालेज में दिखवाया, उसके महिला-मित्रों के यहाँ पुछवाया फिर उस बुड्ढे मिस्त्री के यहाँ भी ढुँढ़वाया। वह न मिली। वह बुड्ढा भी ग़ायब था।

[६]

पूरा यक़ीन है, पुलिस ने खोज में कमी न की। और पूरा अचरज है कि वह खोज कामयाब नहीं हुई! मैं समझता हूँ वह सिक्ख सीधा आदमी न था। छटा बदमाश है और उस्ताद है,—पुलिस की आँख बचाने का हुनर जानता है।

डिक को जब इस दुर्घटना की सूचना और ललिता का सन्देश मैंने दिया तो वह बेचैन हो उठा। उसने ख़ुद दौड़-धूप में कसर न छोड़ी। पर कुछ नतीजा न निकला। डिक ख़ुद अटक हो आया, पर वहाँ से भी कुछ ख़बर न ला सका।

हम सब लोगों ने स्त्रियों के भगाये जाने और बेच दिये जाने की ख़बरों को याद किया, और यद्यपि इस घटना का उन विवरणों से हम, पूरा मेल न मिला सके, फिर भी समझ लिया कि यह भी एक वैसी ही घटना हो गई है। यह बुड्ढा सिक्ख ज़रूर कोई इसी पेशे का आदमी है, न जाने कैसे ललिता को बहका ले गया।

[७]

इसके कोई महीने भर बाद की बात है। एक दिन मेरे अदालत के ही कमरे में डिक ने आकर मुझे एक तार दिखाया। कैम्बेलपुर के कलक्टर का तार था। उक्त विवरण की लड़की के साथ एक बूढ़ा सिक्ख गिरफ्तार किया है। वह गिरफ्तार करके होशङ्गाबाद ही लाया जा रहा है। लड़की ने मुझसे (कलक्टर से) बोलने से इनकार कर दिया, इससे मैं उसे समझा कर होशङ्गाबाद न भिजवा सका।

हमें बड़ी ख़ुशी हुई। डिक फ़ौरन ही कैम्बेलपुर जाने को उतावला हो उठा। पर मैंने रोक दिया—

'पहले, उसे आ जाने दो। देखो, कौन है, कौन नहीं।'

इसके तीसरे रोज़ मुझे ललिता की एक चिट्ठी मिली। चिट्ठी बहुत संक्षिप्त थी। मैंने अब तक ललिता की कोई चिट्ठी नहीं पाई, कोई मौक़ा ही नहीं आया। लिखा था—

चाचाजी, पिताजी के बाद बहुत थोड़े दिन तक मैंने आपको कष्ट दिया। इसलिए पिताजी के नाते भी और अपने निज के नाते भी, मेरा आप पर बहुत हक़ है। उस सबके बदले में आप से एक बात माँगती हूँ। उसके बाद और कुछ न माँगूँगी। समझिए मेरा हक़ ही निबट जायगा। बाबा गिरफ़्तार कर

लिये गये हैं। उन्हें छुड़वाकर घर ही भिजवा दें, ख़र्च उनके पास न हो तो वह भी दे दें।

आपकी—

'ललिता'

चिट्ठी में पता नहीं था, और कुछ भी नहीं था। पर ललिता की चिट्ठी, मानो ललिता ही बनकर, मेरे हाथों में काँपती-काँपती, अपना अनुनय मनवा लेना चाहती है।

अगले रोज़ जेल-सुपरिंटेंडेंट ने मुझे बुलवा भेजा। वही बुड्ढा सिक्ख मेरे सामने हाज़िर हुआ। आते ही धरती पर माथा टेक कर गिड़गिड़ाने लगा—

'राजाजी......'

'क्यों, बुड्ढे, मैंने तुझ पर दया की और तूने शैतानी!'

'राजाजी' और 'हुजूर' ये ही दो शब्द अदल-बदल कर उसके मुँह से निकलते रहे।

'अच्छा, अब क्या चाहता है?'

'हुजूर, जो मर्ज़ी।'

'मर्ज़ी क्या, तुझे जेल होगा। काम ही ऐसा किया है।'

'हुजूर, नहीं-नहीं-नहीं,—राजाजी!'

'क्यों रे, मेरी लड़की को ले भागनेवाला तू कौन था, बदमाश, पाजी!'

'नहीं-नहीं-नहीं—'

उसके बिना कहे मैं समझता जा रहा था कि वह किन्हीं विकट लाचारियों का शिकार बनाया गया है। लेकिन उस घटना पर जो क्षोभ मुझे भुगतना पड़ा था, वह उतरना तो चाहिए किसी पर। इसलिए मैंने उसे काफी कह-सुन लिया। फिर उसे रिहा कर देने का बन्दोबस्त कर दिया।

छूटकर वह मेरे ही घर आया।

'मालिक,—राजाजी—'

उसकी गड़बड़ गिड़गिड़ाहट में से मैंने परिणाम निकाला, वह ख़ाली हाथ है, किराये को पैसा चाहता है, परन्तु वह घर चला जायगा, नहीं तो उससे नौकरी या मज़दूरी करवा ली जाय।

मैंने उसे घर पर ही रहकर काम करने का हुक्म दिया।

डिक को मैंने सूचना दी—'वही बुड्ढा सिक्ख आ गया है।' डिक ने कहा—'उसे छुड़ा लो। उसे साथ लेकर उसके गाँव चलेंगे।'

'छुड़ा लिया है। तो गाँव चलोगे?'

'हाँ, ज़रूर, अभी।'

हम दोनों बुड्ढे को साथ लेकर चल दिये। हमने देखा, बुड्ढा बिलकुल

मनहूस नहीं है। बड़प्पन के आगे तो वह निरीह-दीन हो जाता है, पर अगर उससे सहानुभूति-पूर्वक बोला जाय तो वह बड़ा खुशमिज़ाज बन जाता है। उसने सफ़र में तरह-तरह से हमारी सेवा की; तरह-तरह के क़िस्से सुनाये; लेकिन उस ख़ास विषय पर किसी ने ज़िक्र नहीं उठाया। मानो वह विषय सबके हृदय के इतना समीप है कि ज़रा उँगली लगी तो वह कसक उठेगा।

[८]

सिन्ध घहराता हुआ बह रहा है, और हम स्लेट के पत्थरों के बीच एक पगडण्डी से चुपचाप जा रहे हैं, पैदल।

एक छोटे-से गाँव के किनारे हम आ गये। २५-३० घर होंगे। नीची छतें हैं, उनसे भी नीचे द्वार। शाम हो गई है। हरित भीमकाय उत्तुङ्ग पर्वत-मालाओं की गोद में, इस प्रशान्त-सिन्ध सन्ध्या में, यह खेड़ा, इस अजेय प्रवाह से बहते जाते हुए सिन्ध के किनारे, विश्व के इस एकान्त-शान्त-अज्ञात और गुप-चुप छिपे हुए कोने में, मानो दुनिया की व्यर्थ व्यस्तता और कोलाहल के प्रतिवाद स्वरूप विश्राम कर रहा है। प्रकृति स्थिर, निमग्न, निश्चेष्ट, मानो किसी सजीव राग में तन्मय हो रही है। यह खेड़ा भी मानो उसी राग (harmony) के मौन समारोह में योग दे रहा है।

इन मुट्ठी-भर मकानों से अलग टेकड़ी-सी ऊँची जगह पर एक नया-सा झोपड़ा आया और बुड्ढे ने हमें खबरदार कर दिया। बुड्ढे ने उँगली ओठों पर रख संकेत किया, हमको यहीं, चुप ठहर जाना चाहिए। हम तीनों खड़े हो गये, मानो साँस भी रोक लेना चाहते हैं, ऐसे निस्तब्ध भाव से। नई आवाज़ आई।

'अभी नहीं। सबक़ ख़तम कर दो। तब चलेंगे।'

ओह! ललिता की आवाज़ थी। डिक का तो कलेजा ही उछल कर मुँह तक आ गया। पर हम सब ज्यों-के-त्यों खड़े रहे।

एक भारी, अनपढ़, दबी, मानो आशा के बोझ से दबी, आवाज़ में सुनाई पड़ा—

'दिस इज़ ए चे—चेअर—'

'हाँ, चेअर, ठीक, चेअर। गो आन।'

दो-तीन ऐसे लड़खड़ाते वाक्य और पढ़े गये। और इसी प्रकार उन पर दाद दी गई। फिर उसी बारीक उकसाती हुई और चाहभरी आवाज़ में सुन पड़ा—

'अच्छा, जाने दो। छोड़ो। चलो, दरिया चलें। लेट-स गो।'

हम ओट में छिप रहे। दोनों निकले। ललिता और वह। वह कौन है?

शकल ठीक नहीं देख पड़ी, पर देखा,—ख़ूब डील-डौल का जवान है। पट्ठे भरे हैं, चाल में धमक है, पर सबमें सादगी है।

ललिता उसके बायें हाथ की उँगलियाँ थामे हुए थी। उन्हीं उँगलियों से खेलती चली जा रही थी।

मैंने बुड्ढे से पूछा—'वह कौन है?'

'मेरा लड़का—पुरुखसिंह।' शायद पुरुषसिंह वह ठीक न बोल सका हो।

तब उस बुड्ढे ने कहा—'आओ, चलें, देखें।'

हम चुपचाप उसके साथ चले।

सिन्ध सामने ही तो है। एक बड़ी-सी चट्टान के पास ऐसे खड़े हो गये कि उन दोनों की निगाहों से बचे रहें।

'यू, पोरस, वह क्या बह रहा है?—लाओगे?—ला सकते हो? कैन यू?'

'वह क्या बात?—लो!'

ऊँची धोती पर एक लम्बा-सा कुर्ता तो पहने ही था। उतारा, और उस सिन्ध के हिंस्र प्रवाह में कूद पड़ा। लकड़ी का टुकड़ा था, किनारे से १५ गज़ दूर तो होगा, हमारे देखते-देखते ले आया।

हँसता-दौड़ता आया ललिता के पास। बोला—

'ले आया!—बस?—पर दूँगा नहीं।' इतना कहकर फिर उसने वह लकड़ी भरपूर ज़ोर से धार में फेंक दी।

ललिता ने कहा—'यू नॉटी।'

मैं अपने को सँभाल न सका। चट्टान के पीछे से ही बोल पड़ा—'यू नाटिएस्ट......!'

और बोलने के साथ ही हम तीनों उसके सामने आविर्भूत हो पड़े।

'Hallo, Uncle!...and, oh, Hallo you Dick! How d'ye do dear Dick?......and, oh my dear father—what luck!'

कहकर उसने बुड्ढे का हाथ चूमकर पहले उसका अभिवादन किया।

'See you my Porus, Dick? King Porus of history, mind you! Is he not as fair as you?' डिक को वाग्विमूढ़ छोड़ पोरस को ओर मुड़कर 'इण्ट्रोडक्शन' देते हुए कहा—'My uncle मेरे चचा and that my dear dear friend Dick और वह डिक मेरा ख़ूब प्यारा दोस्त!'

घुटने से ऊपर लाई हुई गीली धोती और नङ्गा बदन लिये पोरस ने डिक अंगरेज़ और मुझ जज के सामने इस परिचय पर हँस दिया। मानो उसे हमारा परिचय ख़ुशी से स्वीकार है।

रेख अभी नहीं फूटी है, बदन और चेहरा भरा-पूरा है, आँखें भोलेपन और ख़ुशी से हँस रही हैं! मुझे यह मानव-मूर्ति स्वास्थ्य और सुख और प्रसन्नता से खिली हुई, मानो गढ़ी हुई यह प्रकृति-मूर्ति अरुचिकर न जान पड़ी।

'पोरस, यू, चाचा को सिर नवाओ।'

उसने दोनों हाथ जोड़कर समस्त सिर झुका दिया।

तब डिक का हाथ बढ़ा। पोरस का हाथ 'शेक' करते हुए कहा—'पोरस, तुम राजा है। हम हारता है, और हम ख़ुश है।' पोरस का हाथ वैसे ही थामे हुए ललिता की ओर मुड़कर कहा, 'Lalita dear, I congratulate you on your treasure, on your victory, on your king! In truth, I do. Here's my hand' और ललिता का हाथ झकझोर दिया।

'Long live Porus, I say—and I be saved.'

प्रश्नावली

१. ललिता के चरित्र की क्या विशेषता है? उसका इस गल्प पर क्या प्रभाव पड़ता है? उसके चरित्र की आलोचना कीजिए।

२. 'शायद उन शब्दों का ललिता के व्यक्तित्व से कोई सामञ्जस्य है।' इस कथन की व्याख्या कीजिए और सिद्ध कीजिए कि सम्पूर्ण गल्प इसी कथन पर अवलम्बित है।

३. प्रसंग के साथ इन अवतरणों का अर्थ लिखिए:—

अ—पर इस बोलने को बीच में लाकर ही वह अपने और डिक के बीच अनुल्लङ्घनीय अन्तर डालने का उपक्रम करती रहती है।

ब—एक दूसरे को नज़दीक लाने में कलह की इन छोटी-छोटी बातों से अमोघ चीज़ कोई नहीं।

ग—ललिता के मुँह से निकले 'बाबा' सम्बोधन की मृदुता ने उसके प्राणों में सुख की एक लहर-सी लहरा दी।

घ—उसने कहा ललिता के भारतीय वातावरण में पले होने के कारण यह बिलकुल स्वाभाविक है कि वह इस सम्बन्ध में अपने अभिभावक से आज्ञा प्राप्त करे।

४. ललिता के चचा की शिक्षा-नीति के विषय में आपकी क्या राय है? यह ललिता के स्वभाव के अनुकूल थी या नहीं?

५. 'तो उन (डिक) से कहिए मैं अपने को इतनी सौभाग्यवती नहीं बना सकती। मुझ नाचीज़ की फिक्र छोड़ें, क्योंकि भाग्य में मुझे नाचीज़ ही बने रहकर रहना लिखा है।'

क—इस कथन का ललिता के चरित्र से सामंजस्य सिद्ध कीजिए।

ख—डिक से विवाह करने में ललिता को क्या आपत्ति थी?

६. डिक का चरित्र अंकित कीजिए।

७. इन शब्दों को अपने वाक्यों में प्रयोग कीजिए।

निश्चेष्ट, भीमकाय, औचित्य, अजेय, आविर्भूत।

मधुआ

श्री जयशंकर प्रसाद

(सन् १८८९—१९३७)

आपका जन्मस्थान काशी है। आप बड़े सहृदय, मिलनसार और निरभिमान थे। अंग्रेजी, उर्दू और बँगला के आप अच्छे ज्ञाता थे। रहस्यवादी कवियों में आपका विशेष स्थान था। आधुनिक नाटककारों में आप सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। कहानी लेखकों में आपका उच्च स्थान है। आपकी कहानियाँ भाव-प्रधान होती हैं। आप उपन्यास लिखने में भी सिद्धहस्त थे। निम्नलिखित आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं—

नाटक—विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, अजातशत्रु, राज्यश्री, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त।

उपन्यास—कंकाल और तितली।

गद्य-संग्रह—आकाशदीप, प्रतिध्वनि, छाया और आँधी।

[१]

'आज सात दिन हो गये, पीने की कौन कहे, छुआ तक नहीं। आज सातवाँ दिन है सरकार !'

'तुम झूठे हो। अभी तो तुम्हारे कपड़े से महँक आ रही है।'

'वह...वह तो कई दिन हुए। सात दिन से ऊपर—कई दिम हुए—अँधेरे में बोतल उँडेलने लगा। कपड़े पर गिर जाने से नशा भी न आया। और आपको कहने को...क्या कहूँ...सच मानिये, सात दिन—ठीक सात दिन से एक बूँद भी नहीं।'

ठाकुर सरदारसिंह हँसने लगे। लखनऊ में लड़का पढ़ता था। ठाकुर साहब भी कभी-कभी वहीं आ जाते। उनको कहानी सुनने का चसका था। खोजने पर यही शराबी मिला। वह रात को, दोपहर में, कभी-कभी सबेरे भी आ जाता। अपनी लच्छेदार कहानी सुनाकर ठाकुर का मनोविनोद करता।

ठाकुर ने हँसते हुए कहा—'तो आज पियोगे न !'

'झूँठ कैसे कहूँ। आज तो जितना मिलेगा, सबकी पीऊँगा। सात दिन चने-चबेने पर बिताये हैं, किस लिए।

'अद्‌भुत ! सात दिन पेट काटकर आज अच्छा भोजन न करके तुम्हें पीने की सूझी है ! यह भी...'

'सरकार ! मौज-बहार की एक घड़ी, एक लम्बे दुःख-पूर्ण जीवन से अच्छी है। उसकी ख़ुमारी में रूखे दिन काट लिये जा सकते हैं।'

'अच्छा आज दिन भर तुमने क्या-क्या किया ?'

'मैंने ? अच्छा सुनिए—सबेरे कुहरा पड़ता था, मेरे धुँआसे कम्बल-सा वह भी सूर्य्य के चारों ओर लिपटा था। हम दोनों मुँह छिपाये पड़े थे।'

ठाकुर साहब ने हँसकर कहा—'अच्छा तो इस मुँह छिपाने का कोई कारण?'

'सात दिन से एक बूँद भी गले न उतरी थी। भला मैं कैसे मुँह दिखा सकता था। और जब बारह बजे धूप निकली, तो फिर लाचारी थी। उठा, हाथ-मुँह धोने में जो दुःख हुआ, सरकार वह क्या कहने की बात है! पास में पैसे बचे थे। चना चबाने से दाँत भाग रहे थे। कटकटी लग रही थी। पराठे-वाले के यहाँ पहुँचा, धीरे-धीरे खाता रहा और अपने को सेंकता भी रहा। फिर गोमती-किनारे चला गया! घूमते-घूमते अँधेरा हो गया, बूँदें पड़ने लगीं। तब कहीं भगा और आपके पास आ गया।'

'अच्छा जो उस दिन तुमने गड़रियेवाली कहानी सुनाई थी, जिसमें आस-फ़ुद्दौला ने उसकी लड़की का आँचल भुने हुए भुट्टे के दानों के बदले मोतियों से भर दिया था। वह क्या सच है?'

'सच! अरे वह ग़रीब लड़की भूख से उसे चबाकर थू-थू करने लगी!... रोने लगी। ऐसी निर्दय दिल्लगी बड़े लोग कर ही बैठते हैं। सुना है श्रीरामचन्द्र ने भी हनुमानजी से ऐसा ही...'

ठाकुर साहब ठठाकर हँसने लगे। पेट पकड़कर हँसते-हँसते लोट गये। साँस बटोरते हुए सम्हलकर बोले—'और बड़प्पन कहते किसे हैं? कंगाल तो कंगाल! गधी लड़की! भला उसने कभी मोती देखे थे, चबाने लगी होगी। मैं सच कहता हूँ, आज तक तुमने जितनी कहानियाँ सुनाईं, सब में बड़ी टीस थी। शाहज़ादों के दुखड़े, रंग-महल की अभागिनी बेगमों के निष्फल प्रेम, करुण-कथा और पीड़ा से भरी हुई कहानियाँ ही तुम्हें आती हैं, पर ऐसी हँसानेवाली कहानी और सुनाओ, तो मैं तुम्हें अपने सामने ही बढ़िया शराब पिला सकता हूँ।'

'सरकार! बूढ़ों से सुने हुए वे नवाबी के सोने-से दिन, अमीरों की रंग-रेलियाँ, दुखड़े की दर्द-भरी आहें, रंग-महलों में घुल-घुलकर मरनेवाली बेगमें, अपने-आप सिर में चक्कर काटती रहती हैं। मैं उनकी पीड़ा से रोने लगता हूँ। अमीर कंगाल हो जाते हैं। बड़ों-बड़ों के घमण्ड चूर होकर धूल में मिल जाते हैं। तब भी दुनिया बड़ी पागल है। मैं उसके पागलपन को, भूलने के लिए शराब पीने लगता हूँ—सरकार! नहीं तो यह बुरी बला कौन अपने गले लगाता!'

ठाकुर साहब ऊँघने लगे थे। अँगीठी में कोयला दहक रहा था। शराबी सरदी से ठिठुरा जा रहा था। वह हाथ सेंकने लगा। सहसा नींद से चौंककर ठाकुर साहब ने कहा—'अच्छा जाओ, मुझे नींद लग रही है। वह देखो, एक रुपया पड़ा है, उठा लो। लल्लू को भेजते जाओ।'

शराबी रुपया उठाकर धीरे से खिसका। लल्लू ठाकुर साहब का जमा-

दार था। उसे खोजते हुए जब वह फाटक पर की बगल वाली कोठरी के पास पहुँचा, तो उसे सुकुमार कण्ठ से सिसकने का शब्द सुनाई पड़ा। वह खड़ा होकर सुनने लगा।

'तो सुअर रोता क्यों है ? कुँवर साहब ने दो ही लात न लगाई है ! कुछ गोली तो नहीं मार दी ?'—कर्कश-स्वर से लल्लू बोल रहा था ; किन्तु उत्तर में सिसकियों के साथ एकाध हिचकी ही सुनाई पड़ जाती थी। अब और भी कठोरता से लल्लू ने कहा—'मधुआ ? जा सो रह ! नख़रा न कर, नहीं तो उठूँगा तो खाल उधेड़ दूँगा ! समझा न ?'

शराबी चुपचाप सुन रहा था। बालक की सिसकी और बढ़ने लगी। फिर उसे सुनाई पड़ा—'ले अब भागता है कि नहीं ? क्यों मार खाने पर तुला है ?'

भयभीत बालक बाहर चला आ रहा था। शराबी ने उसके छोटे-से सुन्दर गोरे मुँह को देखा। आँसू की बूँदें ढुलक रही थीं ! बड़े दुलार से उसका मुँह पोंछते हुए उसे लेकर वह फाटक के बाहर चला आया। दस बज रहे थे। कड़ाके की सरदी थी। दोनों चुपचाप चलने लगे। शराबी की मौन सहानुभूति को उस छोटे से सरल हृदय ने स्वीकार कर लिया। वह चुप हो गया। अभी वह एक तंग गली पर रुका ही था कि बालक के फिर से सिसकने की उसे आहट लगी। वह झिड़ककर बोल उठा—

'अब क्या रोता है रे छोकरे ?'

'मैंने दिन-भर से कुछ खाया नहीं।'

'कुछ खाया नहीं ; इतने बड़े अमीर के यहाँ रहता है और दिन-भर तुझे खाने को नहीं मिला ?'

'यही तो मैं कहने गया था जमादार के पास ; मार तो रोज ही खाता हूँ। आज तो खाना ही नहीं मिला। कुँवर साहब का ओवर-कोट लिये खेल में दिन-भर साथ रहा। सात बजे लौटा, तो और भी नौ बजे तक कुछ काम करना पड़ा। आटा रख नहीं सका था। रोटी बनती तो कैसे ? जमादार से कहने गया था।' भूख की बात कहते-कहते बालक के ऊपर उसकी दीनता और भूख ने एक साथ ही जैसे आक्रमण कर दिया। वह फिर हिचकियाँ लेने लगा।

शराबी उसका हाथ पकड़कर घसीटता हुआ गली में ले चला। एक गन्दी कोठरी का दरवाजा ढकेलकर, बालक को लिए हुए वह भीतर पहुँचा। टटोलते हुए सलाई से मिट्टी की ढेबरी जलाकर वह फटे कम्बल के नीचे से कुछ खोजने लगा। एक पराठे का टुकड़ा मिला। शराबी उसे बालक के हाथ में देकर बोला—'तब तक तू इसे चबा ; मैं तेरा गढ़ा भरने के लिए कुछ और ले आऊँ—

सुनता है रे छोकरे ! रोना मत, रोयेगा तो ख़ूब पीटूँगा। मुझ से रोने से बड़ा बैर है। पाजी कहीं का, मुझे भी रुलाने का...'

शराबी गली के बाहर भागा। उसके हाथ में एक रुपया था। 'बारह आने का एक देशी अद्धा और दो आने की चाप...दो आने की पकौड़ी नहीं-नहीं आलू, मटर...अच्छा, न सही। चारों आने का मांस ही ले लूँगा ; पर यह छोकरा ! इसका गढ़ा जो भरना होगा, यह कितना खायगा और क्या खायगा। ओ ! आज तक तो कभी मैंने दूसरों के खाने का सोच किया ही नहीं। तो क्या ले चलूँ ? पहले एक अद्धा ही ले चलूँ।'

इतना सोचते-सोचते उसकी आँखों पर बिजली के प्रकाश की झलक पड़ी। उसने अपने को मिठाई की दूकान पर खड़ा पाया। वह शराब का अद्धा लेना भूलकर मिठाई-पूरी ख़रीदने लगा। नमकीन लेना भी न भूला। पूरा एक रुपये का सामान लेकर वह दूकान से हटा। जल्द पहुँचने के लिए एक तरह से दौड़ने लगा। अपनी कोठरी में पहुँचकर उसने दोनों की पाँत बालक के सामने सजा दी। उनकी सुगन्ध से बालक के गले में एक तरावट पहुँची। वह मुस्कराने लगा।

शराबी ने मिट्टी की गगरी से पानी उँड़ेलते हुए कहा—नटखट कहीं का, हँसता है। सोंधी बास नाक में पहुँची न ! ले खूब ठूँसकर खा ले और फिर रोया कि पिटा !

दोनों ने, बहुत दिन पर मिलनेवाले दो मित्रों की तरह साथ बैठकर भर-पेट खाया। सीली जगह में सोते हुए बालक ने शराबी का पुराना बड़ा कोट ओढ़ लिया था। जब उसे नींद आ गई, तो शराबी भी कम्बल तानकर बड़-बड़ाने लगा—'सोचा था, आज सात दिन पर भर पेट पीकर सोऊँगा ; लेकिन यह छोटा-सा रोना, पाजी, न जाने कहाँ से आ धमका !'

× × ×

एक चिन्ता-पूर्ण आलोक में आज पहले-पहल शराबी ने आँख खोलकर कोठरी में बिखरी हुई दारिद्र्य की विभूति को देखा, और देखा उस घुटनों से ठुड्डी लगाये हुए निरीह बालक को। उसने तिलमिलाकर मन-ही-मन प्रश्न किया—किसने ऐसे सुकुमार फूलों को कष्ट देने के लिए निर्दयता की सृष्टि की ? आह री नियति ! तब इसको लेकर मुझे घरबारी बनना पड़ेगा क्या ? दुर्भाग्य ! जिसे मैंने कभी सोचा भी न था। मेरी इतनी माया-ममता जिस पर, आज तक केवल बोतल का ही पूरा अधिकार था—इसका पक्ष क्यों लेने लगी ? इस छोटे से पाजी ने मेरे जीवन के लिए कौन-सा इन्द्रजाल रचने का बीड़ा उठाया है ! तब क्या करूँ ? कोई काम करूँ ? कैसे दोनों का पेट चलेगा ! नहीं, भगा दूँ इसे—आँख तो खोले !

बालक अँगड़ाई ले रहा था। वह उठ बैठा। शराबी ने कहा—ले, उठ कुछ खा ले। अभी रात का बचा हुआ है, और अपनी राह देख! तेरा नाम क्या है रे?

बालक ने सहज हँसी हँसकर कहा—मधुआ। भला हाथ-मुँह भी न धोऊँ। खाने लगूँ! और जाऊँगा कहाँ?

'आह! कहाँ बताऊँ इसे कि चला जाय! कह दूँ कि भाड़ में जा; किन्तु वह आज तक दुःख की भट्ठी में जलता ही तो रहा है। तो...' वह चुपचाप घर से झल्लाकर सोचता हुआ निकला—'ले पाजी, अब यहाँ लौटूँगा ही नहीं। तू ही इस कोठरी में रह!'

शराबी घर से निकला। गोमती-किनारे पहुँचने पर उसे स्मरण हुआ कि वह कितनी ही बातें सोचता आ रहा था; पर कुछ भी सोच न सका। हाथ-मुँह धोने में लगा। उजली हुई, धूप निकल आई थी। वह चुपचाप गोमती की धारा को देख रहा था। धूप की गरमी से सुखी होकर वह चिन्ता भुलाने का प्रयत्न कर रहा था कि किसी ने पुकारा—

'भले आदमी रहे कहाँ? सालों पर दिखाई पड़े। तुमको खोजते-खोजते मैं थक गया।'

शराबी ने चौंककर देखा। वह कोई जान-पहचान का तो मालूम होता था; पर कौन है, यह ठीक-ठीक न जान सका।

उसने फिर कहा—तुम्हीं से कह रहे हैं। सुनते हो, उठा ले जाओ अपनी सान धरने की कल, नहीं तो सड़क पर फेंक दूँगा। एक ही तो कोठरी, जिसका मैं दो रुपये किराया देता हूँ, उसमें क्या मुझे अपना कुछ रखने के लिए नहीं है?

'ओहो! रामजी तुम हो, भाई मैं भूल गया था। तो चलो आज ही उसे उठा लाता हूँ।'—कहते हुए शराबी ने सोचा—अच्छी रही, उसी को बेचकर कुछ दिनों तक काम चलेगा।

गोमती नहाकर, रामजी उसका साथी, पास ही अपने घर पर पहुँचा। शराबी को कल देते हुए उसने कहा—ले जाओ, किसी तरह मेरा इससे पिण्ड छूटे।

बहुत दिनो पर आज उसको कल ढोना पड़ा। किसी तरह अपनी कोठरी में पहुँचकर उसने देखा कि बालक चुपचाप बैठा है। बड़बड़ाते हुए उसने पूछा—क्यों रे, तूने कुछ खा लिया कि नहीं?

'भर-पेट खा चुका हूँ, और वह देखो तुम्हारे लिए भी रख दिया है।' कहकर उसने अपनी स्वाभाविक मधुर हँसी से उस रूखी कोठरी को तर कर दिया।

शराबी एक क्षण-भर चुप रहा। फिर चुपचाप जलपान करने लगा। मन-ही-मन सोच रहा था—यह भाग्य का संकेत नहीं तो और क्या है ? चलूँ फिर लेकर सान देने का काम चलता करूँ। दोनों का पेट भरेगा। वही पुराना चरखा फिर सिर पड़ा। नहीं तो, दो बातें क़िस्सा-कहानी, इधर-उधर की कह-कर अपना काम चला ही लेता था ! फिर अब तो बिना कुछ किये घर नहीं चलने का। जल पीकर बोला—'क्यों रे मधुआ, अब तू कहाँ जायगा ?'

'कहीं नहीं।'

'यह लो, तो फिर क्या यहाँ जमा गड़ी है, कि मैं खोद-खोदकर तुझे मिठाई खिलाता रहूँगा।'

'तब कोई काम करना चाहिए।'

'करेगा ?'

'जो कहो !'

'अच्छा तो आज से मेरे साथ-साथ घूमना पड़ेगा। यह कल तेरे लिए लाया हूँ। चल आज से तुझे सान देना सिखाऊँगा। कहाँ रहूँगा, इसका कुछ ठीक नहीं। पेड़ के नीचे रात बिता सकेगा न ?'

'कहीं भी रह सकूँगा ; पर उस ठाकुर की नौकरी न कर सकूँगा !'—शराबी ने एक बार स्थिर दृष्टि से उसे देखा। बालक की आँखें दृढ़ निश्चय की सौगन्ध खा रही थीं।

शराबी ने मन-ही-मन कहा—बैठे-बैठाये यह हत्या कहाँ से लगी। अब तो शराब न पीने की मुझे भी सौगन्ध लेनी पड़ी।

वह साथ ले जानेवाली वस्तुओं को बटोरने लगा। एक गट्ठर का और दूसरा कल का, दो बोझ हुए।

शराबी ने पूछा—तू किसे उठाएगा ?

'जिसे कहो।'

'अच्छा, तेरा बाप जो मुझको पकड़े तो ?'

'कोई नहीं पकड़ेगा, चलो भी। मेरे बाप मर गये।'

शराबी आश्चर्य से उसका मुँह देखता हुआ कल उठाकर खड़ा हो गया। बालक ने गठरी लादी। दोनों कोठरी छोड़कर चल पड़े।

प्रश्नावली

१. शराबी का शराब पीना कैसे छूटा ?
२. इस कहानी का सारांश लिखिए !
३. बालक के रोने का शराबी के हृदय पर क्या प्रभाव पड़ा ?
४. शराबी ने क्यों शराब पीना आरम्भ किया था ?

(१) एक आलोचक ने लिखा है 'जीवन का सत्य बहुधा वहाँ पाया जाता है जहाँ

भद्र पुरुष जाते हुए भी नाक बन्द कर लेगा।'

शराबी के चरित्र से इस कथन को आप सिद्ध कर सकते हैं ?

(२) एक चिन्तापूर्ण आलोक में आज पहले पहल शराबी ने आँख खोलकर कोठरी में बिखरी हुई दारिद्र्य की विभूति को देखा और देखा उस घुटने से ठुड्डी लगाये निरीह बालक को, उसने तिलमिलाकर मन-ही-मन प्रश्न किया—किसने ऐसे सुकुमार फूलों को कष्ट देने के लिए निर्दयता की सृष्टि की ? आह री नियति !...इस छोटे से पाजी ने मेरे जीवन के लिए कौनसा इन्द्रजाल रचने का बीड़ा उठाया है।

अ. जो वाक्यांश बड़े टाइप में लिखे गये हैं। उनका आशय लिखो !

ब. शराबी तिलमिलाया क्यों ? इससे उसके चरित्र पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

स. 'पाजी' यहाँ शराबी के किस मनोभाव का सूचक है, स्नेह या घृणा ?

(३) निम्नलिखित अवतरणों का आशय प्रसंग सहित लिखिये !

क. यह भाग्य का संकेत नहीं तो और क्या है ?

ख. बालक की आँखें दृढ़ निश्चय की सौगन्ध खा रही थीं।

ग. मौज बहार की एक घड़ी एक लम्बे दुःखपूर्ण जीवन से अच्छी है।

(४) इस कहानी में प्रसादजी ने अन्तस्तल के किस भाव को निश्चित करने की चेष्टा की है ? आपके विचार में वह इसमें सफल हुए या नहीं ?

पानवाली

श्री चतुरसेन शास्त्री

(सं० १९३९)

आप प्रसिद्ध वैद्य हैं। आजकल आप दिल्ली में रहते हैं। आप गद्य-काव्य लेखकों में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। आप हृदय के भावों की उथल-पुथल का मनोरम चित्रण करने में सिद्धहस्त है। आपकी कहानियाँ और उपन्यास उच्चकोटि के होते हैं। आपकी भाषा मुहावरेदार होती है। आपकी मुख्य रचनाएँ ये हैं—

उपन्यास—हृदय की प्यास, हृदय की परख, अमर अभिलाषा

गल्प-संग्रह—अक्षत, रजकण।

गद्य-काव्य—अन्तस्तल, प्रणाम, संदेश।

नाटक—उत्सर्ग, अमर राठौर।

[१]

लखनऊ के अमीनाबाद पार्क में इस समय जहाँ घंटाघर है, वहाँ अब से सत्तर वर्ष पूर्व एक छोटी-सी टूटी हुई मस्जिद थी, जो भूतोंवाली मस्जिद कहलाती थी, और अब जहाँ गंगा-पुस्तक-माला की आलीशान दूकान है, वहाँ एक छोटा-सा एकमंज़िला घर था। चारों तरफ न आज की-सी बहार थी,

न बिजली की चमक, न बढ़िया सड़कें, न मोटर, न मेमसाहिबाओं का इतना जमघट।

लखनऊ के आख़िरी बादशाह प्रसिद्ध वाजिदअली की अमलदारी थी। ऐयाशी और ठाट-बाट के दौर-दौरे थे। मगर इस मुहल्ले में रौनक न थी। उस घर में एक टूटी-सी कोठरी मैं एक बुढ़िया मनहूस सूरत, सन के समान बालों को बिखेरे, बैठी किसी की प्रतीक्षा कर रही थी। घर में एक दीया धीमी आभा से टिमटिमा रहा था। रात के दस बज गये थे। जाड़े के दिन थे, सभी लोग अपने-अपने घरों में रज़ाइयों में मुँह लपेटे पड़े थे, गली और सड़क पर सन्नाटा था।

धीरे-धीरे बढ़िया वस्त्रों से आच्छादित एक पालकी इस टूटे घर के द्वार पर चुपचाप रुकी और काले वस्त्रों से आच्छादित एक स्त्री-मूर्ति ने बाहर निकलकर धीरे-से द्वार पर थपकी दी। तत्काल द्वार खुला, और स्त्री ने घर में प्रवेश किया।

बुढ़िया ने कहा—'ख़ैर तो है ?'

'सब ठीक है, क्या मौलवी साहब मौक़े पर मौजूद हैं ?'

'कबके इंतज़ार कर रहे हैं, कुछ ज़्यादा जाँफ़िशानी तो नहीं करनी पड़ी ?'

'जाँफ़िशानी ! बेखुश, जान पर खेल कर लाई हूँ, करती भी क्या ? गर्दन थोड़े ही उतरवानी थी।'

'होश में तो है ?'

'अभी बेहोश है। किसी तरह राज़ी न होती थी। मजबूरन यह किया गया।'

'तब चलें।'

बुढ़िया उठी। दोनों पालकी में जा बैठीं। पालकी संकेत पर चलकर मस्जिद की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई भीतर चली गई।

[२]

मस्जिद में सन्नाटा और अन्धकार था, मानो वहाँ कोई जीवित पुरुष नहीं है। पालकी के आरोहियों को इसकी परवा न थी। वे पालकी को सीधे मस्जिद के भीतरी कक्ष में ले गये। यहाँ पालकी रक्खी। बुढ़िया ने बाहर आकर एक कोठरी में प्रवेश किया वहाँ एक आदमी सिर से पैर तक चादर ओढ़े सो रहा था। बुढ़िया ने कहा—'उठिए मौलवी साहब, मुरीदों का तावीज़ इनायत कीजिए। क्या अभी बुख़ार नहीं उतरा ?'

'अभी तो चढ़ा ही है'—कहकर मौलवी साहब उठ बैठे। बुढ़िया ने कुछ कान में कहा, मौलवी साहब सफ़ेद दाढ़ी हिलाकर बोले—'समझ गया, कुछ खटका नहीं है। हैदर ख़ोजा मौके पर रोशनी लिये हाज़िर मिलेगा। मगर तुम लोग बेहोशी की हालत में उसे किस तरह—'

'आप बेफ़िक्र रहें। बस सुरंग की चाभी इनायत करें।'

मौलवी साहब ने उठकर मस्जिद की बाईं ओर के चबूतरों के पीछेवाले भाग में जाकर एक क़ब्र का पत्थर किसी तरकीब से हटा दिया। वहाँ सीढ़ियाँ निकल आईं। बुढ़िया उसी तंग तहख़ाने के रास्ते उसी काले वस्त्र से आच्छादित लम्बी स्त्री के सहारे एक बेहोश स्त्री को नीचे उतारने लगी। उनके चले जाने पर मौलवी साहब ने ग़ौर से इधर-उधर देखा, और फिर किसी गुप्त तरकीब से तहखाने का द्वार बन्द कर दिया। तहख़ाना फिर क़ब्र बन गया।

[३]

उन हज़ार फ़ानूसों में कसूमा बत्तियाँ जल रही थीं और कमरे की दीवार गुलाबी साटन के परदों से छिप रही थी। फ़र्श पर ईरानी कालीन बिछा था, जिस पर निहायत नफ़ीस और खुशरंग काम बना हुआ था। कमरा ख़ूब लम्बा-चौड़ा था। उसमें तरह-तरह के ताज़े फूलों के गुलदस्ते सजे हुए थे और हिना की तेज़ महक से कमरा महक रहा था। कमरे के एक बाज़ू में मख़मल का बालिश्त भर ऊँचा एक गद्दा बिछा था, जिस पर कारचोबी का उभरा हुआ बहुत ही खुशनुमा काम था। उस पर एक बड़ी सी मसनद लगी थी, जिसपर चार सुनहरे खम्भों पर मोती की झालर का चन्दोवा तना था।

मसनद पर एक बलिष्ठ पुरुष उत्सुकता से किन्तु अलसाया बैठा था। इसके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। इसका मोती के समान उज्ज्वल रंग, कामदेव को मात करनेवाला प्रदीप्त सौन्दर्य, झब्बेदार मूछें, रस-भरी आँखें और मदिरा से प्रस्फुटित होंठ कुछ और ही समा बाँध रहे थे। सामने पानदान में सुनहरी गिलौरियाँ भरी थीं। इत्रदान में शीशियाँ लुढ़क रही थीं। शराब की प्याली और सुराही क्षण-क्षण पर ख़ाली हो रही थीं। वह सुगन्धित मदिरा मानो उसके उज्ज्वल रंग पर सुनहरी निखार ला रही थी। उसके कण्ठ में पन्ने का एक बड़ा-सा कण्ठा पड़ा था और उँगलियों में हीरे की अँगूठियाँ बिजली की तरह दमक रही थीं। यही लाखों में दर्शनीय पुरुष लखनऊ के प्रख्यात नवाब वाजिदअली शाह थे!

कमरे में कोई न था। वह बड़ी आतुरता से किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। वह आतुरता क्षण-क्षण पर बढ़ रही थी। एकाएक एक खटका हुआ। बादशाह ने ताली बजाई और वही लम्बी स्त्री-मूर्ति सिर से पैर तक काले वस्त्रों से शरीर को लपेटे मानों दीवार फाड़कर आ उपस्थित हुई।

'ओह मेरी गबरू! तुमने तो इन्तज़ार ही में मार डाला। क्या गिलौरियाँ लाई हो?'

'मैं हुज़ूर पर कुर्बान!' इतना कहकर उसने वह काला लबादा उतार डाला। उफ़, ग़ज़ब! उस काले आवेष्ठन में मानो सूर्य का तेज छिपा था। कमरा

चमक उठा। बहुत बढ़िया चमकीले विलायती साटन का पोशाक पहने एक सौन्दर्य की प्रतिमा इस तरह निकल आई, जैसे राख के ढेर में से अंगार! इस अभिष्टसौन्दर्य की रूप-रेखा कैसे बयान की जाय? इस अंग्रेज़ी राज्य और अंग्रेज़ी सभ्यता में, जहाँ क्षणभर चमककर बादलों में विलीन हो जानेवाली बिजली, सड़क पर अयाचित ढेरों प्रकाश बखेरती रहती है, तब इस रूप-ज्वाला की उपमा कहाँ ढूँढ़ी जाय? उस अन्धकारमय रात्रि में यदि उसे खड़ा कर दिया जाय तो वह कसौटी पर स्वर्ण-रेखा की तरह दीप्त हो उठे और यदि वह दिन के उज्ज्वल प्रकाश में खड़ी कर दी जाय, तो उसे देखने का साहस कौन करे? किन आँखों में इतना तेज है?

उस सुगन्धित और मधुर प्रकाश में मदिरा-रंजित नेत्रों से वाजिदअली की वासना उस रूप-ज्वाला को देखते ही भड़क उठी। उन्होंने कहा—'रूपा, ज़रा नज़दीक आओ। एक प्याला शीराज़ी और अपनी लगाई हुई अम्बरी पान की बीड़ियाँ दो तो। तुमने तो तरसा-तरसा कर ही मार डाला।'

रूपा आगे बढ़ी, सुराही से शराब उँड़ेली और ज़मीन में घुटने टेककर आगे बढ़ा दी, इसके बाद उसने चार सोने के वर्क़-लपेटी बीड़ियाँ निकालकर बादशाह के सामने पेश कीं और दस्तबस्ता अर्ज़ की—'हुज़ूर की ख़िदमत में लौंडी वह तोहफ़ा ले आई है।'

वाजिदअली शाह की बाछें खिल गईं। उन्होंने रूपा को घूम-घूमकर कहा—'वाह! तब तो आज...' रूपा ने संकेत किया। हैदर ख़ोजा उस फूल सी मुरझाई कुसुम-कली को फूल की तरह हाथों पर उठाकर—पान-गिलौरी की तश्तरी की तरह—बादशाह के रूबरू कालीन पर डाल गया। रूपा ने बाँकी अदा से कहा—'हुज़ूर को आदाब!' और चल दी।

[४]

एक चौदह वर्ष की, भयभीत, मूर्च्छित, असहाय, कुमारी बालिका अकस्मात् आँख खुलने पर सम्मुख शाही ठाट से सजे हुए महल और दैत्य के समान नरपशु को पाप-वासना से प्रमत्त देखकर क्या समझेगी? कौन अब इस भयानक क्षण की कल्पना करे। वही क्षण—होश में आते ही उस बालिका के सामने आया। वह एकदम चीत्कार करके फिर से बेहोश हो गई। पर इस बार शीघ्र ही उसकी मूर्च्छा दूर हो गई। एक अतर्क्य साहस, जो ऐसी अवस्था में प्रत्येक जीवित प्राणी में हो जाता है, उस बालिका के शरीर में उदय हो आया। वह सिमट कर बैठ गई, और पागल की तरह चारों तरफ़ एक दृष्टि डालकर एकटक उस मत्त पुरुष की ओर देखने लगी।

उस भयानक क्षण में भी उस विशाल पुरुष का सौन्दर्य और प्रभा देखकर उसे कुछ साहस हुआ। वह बोली तो नहीं, पर कुछ स्वस्थ होने लगी।

नवाब ज़ोर से हँस दिये। उन्होंने गले का वह बहुमूल्य कण्ठा उतारकर बालिका की ओर फेंक दिया। इसके बाद वह नेत्रों के तीर निरन्तर फेंकते बैठे रहे।

बालिका ने कण्ठा देखा भी नहीं, छुआ भी नहीं, वह वैसी ही सिकुड़ी हुई, वैसी ही निर्निमेष दृष्टि से भयभीत हुई नवाब को देखती रही।

नवाब ने दस्तक दी। दो बाँदियाँ दस्तबस्ता आ हाज़िर हुईं। नवाब ने हुक्म दिया—इसे गुस्ल कराकर और सब्ज़परी बनाकर हाज़िर करो। उस पुरुष-पाषाण की अपेक्षा स्त्रियों का संसर्ग ग़नीमत जानकर बालिका मंत्रमुग्ध-सी उठकर उनके साथ चली गई।

इसी समय एक ख़ोजे ने आकर अर्ज़ की—ख़ुदाबन्द! साहब बहादुर बड़ी देर से हाज़िर हैं।

'उनसे कह दो, अभी ज़चाख़ाने में हैं, अभी मुलाक़ात नहीं होगी।'

'आलीजाह! कलकत्ते से एक जल्दी.........

'मर मुए, हमारे पीर उठ रही है।'

ख़ोजा चला गया।

लखनऊ के खास बाज़ार की बहार देखने योग्य थी। शाम हो चली थी और छिड़काव हो गया था। इक्कों और बहलियों, पालकियों और घोड़ों का अजीब जमघट था। आज तो उजाड़ अमीनाबाद का रंग ही कुछ और है। तब यही रौनक़ चौक को प्राप्त थी। बीच चौक में रूपा की पानों की दुकान थी। फ़ानूसों और रंगीन झाड़ों से जगमगाती गुलाबी रोशनी के बीच स्वच्छ बोतल में मदिरा की तरह रूपा दूकान पर बैठी थी। दो निहायत हसीन लौंडियाँ पान की गिलौरियाँ बनाकर उसमें सोने के वर्क़ लपेट रही थी। बीच-बीच में अठखेलियाँ भी कर रही थीं। आज-कल के कलकत्ते के कारंथियन थिएटर रंग-मंच पर भी ऐसा मोहक और आकर्षक दृश्य नहीं देख पड़ता जैसा उस समय रूपा की दूकान पर था। ग्राहकों की भीड़ का पार न था। रूपा ख़ास-ख़ास ग्राहकों का स्वागत कर, पान दे रही थी। बदले में खनाखन अशर्फ़ियों से उसकी गंगाजमुनी काम की तश्तरी भर रही थी। वे अशर्फ़ियाँ रूपा की एक अदा, एक मुसकराहट—केवल एक कटाक्ष का मोल थीं। पान की गिलौरियाँ तो लोगों को घाते में पड़ती थीं। एक नाज़ुक-अंदाज़ नवाबज़ादे तामजाम में बैठे अपने मुसाहबों और कहारों के झुरमुट के साथ आये, और रूपा की दूकान पर तामजाम रोका। रूपा ने सलाम करके कहा—'मैं सदक़े शाहजादा साहब, ज़री बाँदी की एक गिलौरी क़ुबूल फर्मावें।' रूपा ने लौंडी की तरफ़ इशारा किया। लौंडी सहमत हुई सोने की एक रकाबी में ५-७ गिलौरियाँ लेकर तामजाम तक गई। शाहज़ादे ने मुसकिरा-

कर दो गिलौरियाँ उठाईं, एक मुट्ठी अशर्फियाँ तश्तरी में डालकर आगे बढ़े। एक खाँ साहब बालों में मेंहदी लगाये, दिल्ली के बासली के जूते पहने तनज़ेब की चपकन कसे, सिर पर लैसदार ऊँची टोपी लगाये, आये। रूपा ने बड़े तपाक से कहा—'अल्ला ख़ाँ साहब! आज तो हुज़ूर रास्ता भूल गये! अरे कोई है, आपको बैठने की जगह दे। अरी गिलौरियाँ तो लाओ।'

ख़ाँ साहब रूपा के रूप की तरह चुपचाप गिलौरियाँ के रस का घूँट पीने लगे। थोड़ी देर में एक अधेड़ मुसलमान अमीरज़ादे की शकल में आये। उन्हें देखते ही रूपा ने कहा—'अरे हुज़ूर तशरीफ ला रहे हैं। मेरे सरकार आप तो ईद के चाँद हो गये। कहिए, ख़ैराफ़ियत है? अरी, मिर्ज़ा साहब को गिलौरियाँ दीं?' तश्तरी में खनाखन हो रही थी, और रूपा की रूप और पान की हाट ख़ूब गरमा रही थी। ज्यों-ज्यों अन्धकार बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों रूपा पर रूप की दुपहरी चढ़ रही थी। धीरे-धीरे एक पहर रात बीत गई। ग्राहकों की भीड़ कुछ कम हुई। रूपा अब सिर्फ कुछ चुने हुए प्रेमी ग्राहकों से घुलघुलकर बातें कर रही थी। धीरे-धीरे एक अजनबी आदमी दूकान पर आकर खड़ा हो गया। रूपा ने अप्रतिभ होकर पूछा—

'आपको क्या चाहिए?'

'आपके पास क्या-क्या मिलता है?'

'बहुत-सी चीज़ें। क्या पान खाइयेगा?'

'क्या हर्ज है?'

रूपा के संकेत से दासी बालिका ने पान की तश्तरी अजनबी के आगे धर दी।

दो बीड़ियाँ हाथ में लेते हुए उसने कहा—'इनकी क़ीमत क्या है बी साहबा!'

'जो कुछ जनाब दे सकें।'

'यह बात है! तब ठीक, जो कुछ मैं ले सका, वह लूँगा भी!' अजनबी हँसा नहीं। उसने भेदभरी दृष्टि से रूपा को देखा।

रूपा की भृकुटी ज़रा टेढ़ी पड़ी और वह एक बार तीव्र दृष्टि से देखकर फिर अपने मित्रों के साथ बातचीत में लग गई। पर बातचीत का रंग जमा नहीं। धीरे-धीरे मित्रगण उठ गये। रूपा ने एकान्त पाकर कहा—

'क्या हुज़ूर का मुझसे कोई ख़ास काम है?'

'मेरा तो नहीं, मगर कम्पनी बहादुर का है।'

रूपा काँप उठी। वह बोली—'कम्पनी बहादुर का क्या हुक्म है?'

'भीतर चलो तो कहा जाय।'

'मगर माफ़ कीजिए—आप पर यक़ीन कैसे ?'

'ओह ! समझ गया । बड़े साहब की यह चीज़ तो तुम शायद पहचानती ही होगी ?'

यह कहकर उन्होंने एक अँगूठी दूर से दिखा दी ।

'समझ गई ! आप अन्दर तशरीफ़ लाइये ।'

रूपा ने एक दासी को अपने स्थान पर बैठाकर अजनबी के साथ दूकान के भीतरी कक्ष में प्रवेश किया ।

× × ×

दोनों व्यक्तियों में क्या बातें हुईं, यह तो हम नहीं जानते, मगर उसके ठीक तीन घण्टे बाद दो व्यक्ति काला लबादा ओढ़े दूकान से निकले और किनारे लगी हुई पालकी में बैठ गये । पालकी धीरे-धीरे उसी भूतोंवाली मस्जिद में पहुँची । उसी प्रकार मौलवी ने क़ब्र का पत्थर हटाया और एक मूर्ति ने क़ब्र के तहखाने में प्रवेश किया । दूसरे व्यक्ति ने एकाएक मौलवी को पटककर मुश्कें बाँध लीं और एक संकेत किया । क्षणभर में ५० सुसज्जित काली-काली मूर्तियाँ आ खड़ी हुईं और बिना एक शब्द मुँह से निकाले चुपचाप क़ब्र के अन्दर उतर गईं ।

[६]

अब फिर चलिए अनंगदेव के उसी रंग-मन्दिर में । सुख-साधनों से भरपूर वही यह कक्ष आज सजावट ख़तम कर गया था । सहसा उल्कापात की तरह रंगीन हाँडियाँ, बिल्लौरी फ़ानूस और हज़ारा झाड़ सब जल रहे थे । तत्परता से किन्तु नीरव बाँदियाँ और गुलाम दौड़-धूप कर रहे थे । अनगिनत रमणियाँ अपने मदभरे होठों की थालियों में भाव की मदिरा उँडेल रही थीं । उन सुरीले रागों की बौछारों में बैठे बादशाह वाजिदअलीशाह शराबोर हो रहे थे । उस गायनोन्माद में मालूम होता था, कमरे के जड़ पदार्थ भी मतवाले होकर नाच उठेंगे । नाचनेवालियों के ठुमके और नूपुर की ध्वनि सोते हुए यौवन से ठोकर मारकर कहती थी—'उठ, उठ, ओ मतवाले, उठ !' उन नर्तकियों के बढ़िया चिकनदोज़ी के सुवासित दुपट्टों से निकली हुई सुगन्ध उनके नृत्यवेग से विचलित वायु के साथ घुलमिलकर ग़दर मचा रही थी । पर सामने का सुनहरी फ़व्वारा, जो सामने स्थिर ताल पर बीस हाथ ऊपर फेंककर रंगीन जलबिन्दु-राशियों से हाथापाई कर रहा था, देखकर कलेजा बिना उछले कैसे रह सकता था !

उसी मसनद पर बादशाह वाजिदअलीशाह बैठे थे । एक गंगाजमनी काम का अलबोला वहाँ रक्खा था, जिसकी ख़मीरी मुश्की तम्बाकू जलकर एक अनोखी सुगन्ध फैला रही थी । चारों तरफ़ सुन्दरियों का झुरमुट उन्हें

घेरे बैठा था। सभी अधनंगी उन्मत्त, निर्लज्ज हो रही थीं। पास ही सुराही और थालियाँ रक्खी थीं और बारी-बारी से उन दुर्बल होठों को चूम रही थीं। आधा मद पी-पीकर वे सुन्दरियाँ उन प्यालियों को बादशाह के होठों में लगा देती थीं। वह आँखें बन्द करके उसे पी जाते थे। कुछ सुन्दरियाँ पान लगा रही थीं, कुछ अलबोले की निगाली पकड़े हुई थीं। दो सुन्दरियाँ दोनों तरफ़ पीकदान लिये खड़ी थीं, जिनमें बादशाह कभी-कभी पीक गिरा देते थे।

इस उल्लसित आमोद के बीच बीच एक मुर्झाया हुआ पुष्प—कुचली हुई पान की गिलौरी—वही बालिका—बहुमूल्य हीरेखचित वस्त्र पहने—बादशाह के बिलकुल पास में लगभग मूर्च्छित और अस्तव्यस्त पड़ी थी। रह-रहकर शराब की प्याली उसके मुख से लग रही थी, और वह ख़ाली कर रही थी। एक निर्जीव दुशाले की तरह बादशाह उसे अपने बदन से सटाए मानो अपनी तमाम इन्द्रियों को एक ही रस में शराबोर कर रहे थे। गम्भीर आधी रात बीत रही थी। सहसा इसी आनन्दवर्षा में बिजली गिरी। कक्ष के उसी गुप्त द्वार को विदीर्ण कर क्षण भर में वही रूपा काले आवरण से नखशिख ढके निकल आई। दूसरे क्षण में एक और मूर्ति वैसे ही आवेष्टन में बाहर निकल आई। क्षणभर बाद दोनों ने अपने आवेष्टन उतार फेंके। वही अग्निशिखा ज्वलन्त रूपा और उसके साथ गौरांग कर्नल!

नर्तकियों ने एकदम नाचना-गाना रोक दिया। बाँदियाँ शराब की प्यालियाँ लिये काठ की पुतली की तरह खड़ी की खड़ी रह गईं। केवल फ़व्वारा ज्यों का त्यों आनन्द से उछल रहा था। बादशाह यद्यपि बिलकुल बदहवास थे, मगर यह सब देखकर वह मानो आये उठकर बोले—'ओह! रूपा-दिलरुबा! तुम और ऐं मेरे दोस्त कप्तान—इस वक़्त यह क्या माजरा है?'

आगे बढ़कर, और अपनी चुस्त पोशाक ठीक करते हुए तलवार की मूठ पर हाथ रख कप्तान ने कहा—'कल आलीजाह की बंदगी में हाज़िर हुआ था; मगर...'

'ओफ़ मगर—इस वक़्त इस रास्ते से? ऐं माजरा क्या है? अच्छा बैठो, हाँ, ज़ोहरा, एक प्याला मेरे दोस्त कर्नल के...'

'माफ़ करें हुज़ूर! इस समय मैं एक काम से सरकार की ख़िदमत में हाज़िर हुआ हूँ।'

'काम! वह काम क्या है?'—बैठते हुए बादशाह ने कहा।

'मैं तख़लिए में अर्ज़ किया चाहता हूँ।'

'तख़लिया! अच्छा, अच्छा, ज़ोहरा! ओ क़ादिर!'

धीरे-धीरे रूपा को छोड़कर सभी बाहर निकल गईं। उस सौंदर्य-स्वप्न में रह गई अकेली रूपा। रूपा को लक्ष्य करके कहा—'यह तो ग़ैर नहीं। रूपा!

दिलरुबा! एक प्याला अपने हाथों से दो तो।' रूपा ने सुराही से शराब उँडेल लबालब प्याला भरकर बादशाह के होठों से लगा दिया। हाय! लखनऊ के नवाब का वही अंतिम प्याला था। उसे बादशाह ने आँखें बंद कर पीकर कहा—'वाह प्यारी!'

'हाँ, अब तो वह बात! मेरे दोस्त...'

'हुज़ूर को ज़रा रेजिडेंसी तक चलना पड़ेगा।'

बादशाह ने उछल कर कहा—'ऐं, यह कैसी बात! रेजिडेंसी तक मुझे?'

'जहाँपनाह, मैं मजबूर हूँ, काम ऐसा ही है?'

'इसका मतलब?'

'मैं अर्ज़ नहीं कर सकता। कल मैं यही तो अर्ज़ करने हाज़िर हुआ था।'

'ग़ैर मुमकिन! ग़ैर मुमकिन!' बादशाह गुस्से से होंठ काटकर उठे, और अपने हाथ से सुराही से उँडेल कर ३-४ प्याले पी गये। धीरे-धीरे उसी दीवार से एक-एक करके चालीस गोरे सैनिक संगीन और किर्चें सजाये कक्ष में घुस आये।

बादशाह देखकर बोले—'ख़ुदा की क़सम, यह तो दग़ा है! क़ादिर!'

'जहाँपनाह, अगर खुशी से मेरी अर्ज़ी क़बूल न करेंगे, तो न ख़ूनख़राबी होगी। कम्पनी बहादुर के गोरों ने महल घेर लिया है। अर्ज़ यही है कि सरकार चुपचाप चले चलें।'

बादशाह धब से बैठ गये। मालूम होता है, क्षणभर के लिए उनका नशा उतर गया। उन्होने कहा—'तुम तब क्या मेरे दुश्मन होकर मुझे क़ैद करने आये हो।'

'मैं हुज़ूर का दोस्त हर तरह हुज़ूर के आराम और फ़हरत का ख़्याल रखता हूँ, और हमेशा रक्खूँगा।'

बादशाह ने रूपा की ओर देखकर कहा—'रूपा! रूपा! यह क्या माजरा है? तुम भी क्या इस मामले में हो? एक प्याला—मगर नहीं, अब नहीं। अच्छा—सब साफ़-साफ़ सच कहो! कर्नल मेरे दोस्त...नहीं, नहीं अच्छा कर्नल! सब खुलासावार बयान करो।'

'सरकार, ज़्यादा मैं कुछ नहीं कह सकता। कम्पनी बहादुर का ख़ास परवाना लेकर ख़ुद लाट साहब तशरीफ लाये हैं और आलीजाह से कुछ मशविरा किया चाहते हैं।'

'मगर यहाँ?'

'यह नामुकिन है।'

बादशाह ने कर्नल की तरफ़ देखा। वह तना खड़ा था, और उसका हाथ तलवार की मूठ पर था।

'समझ गया, सब समझ गया।' यह कहकर बादशाह कुछ देर हाथों से

आँखें ढाँपकर बैठ गये। कदाचित् उनकी सुन्दरी रसभरी आँखों में आँसू भर आये हों।

रूपा ने पास आकर कहा—'मेरे ख़ुदावन्द, बाँदी...'

'हट जा, ऐ नमकहराम, रज़ील, बाज़ारू औरत !'

बादशाह ने यह कहकर एक ठोकर लगाई, और कहा—'तब चलो ! मैं चलता हूँ ख़ुदा हाफ़िज।'

पहले बादशाह, पीछे कप्तान, उसके पीछे रूपा, और सबके अन्त में एक-एक करके सिपाही उसी दरार में विलीन हो गये। महल में किसी को कुछ मालूम न था। वह मूर्तिमान संगीत—वह उमड़ता हुआ आनन्द-समुद्र सदा के लिए मानो किसी जादूगर ने निर्जीव कर दिया।

[७]

कलकत्ते के एक उजाड़-से भाग में एक बहुत विशाल मकान में, वाजिदअली शाह, नज़रबन्द थे। ठाट लगभग वही था। सैकड़ों दासियाँ बाँदियाँ और वेश्याएँ भरी हुई थीं, पर वह लखनऊ का रंग कहाँ ?

खाना खाने का वक्त हुआ, और जब दस्तरख़ान पर खाना चुना गया, तो बादशाह ने चख-चखकर फेंक दिया। अँगरेज़ अफ़सर ने घबराकर पूछा—'खाने में क्या नुक़्स है ?'

जवाब दिया गया—'नमक ख़राब है।'

'नवाब कैसा नमक खाते है ?'

'एक मन का डला रखकर उस पर पानी की धार छोड़ी जाती है। जब घुलते-घुलते छोटा-सा टुकड़ा रह जाता है तब बादशाह के खाने में वह नमक इस्तेमाल होता है।'

अँगरेज़ अधिकारी मुसकराता चला गया। क्यों ? ओह ! हम लोगों के समझने के योग्य यह भेद नहीं।

उसी रसरंग की दीवारों के भीतर अब सरकारी दफ़्तर खुल गये हैं, और वह अमर क़ैसर बाग़ मानो रँडुए की तरह खड़ा उस रसीली रात की याद में सिर धुन रहा है।

प्रश्नावली

१. वाजिदअली शाह का चरित्र-चित्रण करो !
२. रूपा कौन थी ?
३. रंगमहल के गुप्त-द्वार का पता अँगरेज़ों ने किस प्रकार लगाया ?
४. इस कहानी का शीर्षक पानवाली क्यों रक्खा गया है ?
५. इस कहानी के पढ़ने से भारत की स्थिति पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

सम्राट् का स्वत्व

श्री राय कृष्णदास

(सं० १९५९)

आपका जन्मस्थान काशी है। आप ललित-कलाओं के प्रेमी और मर्मज्ञ हैं। इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है—काशी का भारत कला-भवन।

आप भावुक कवि हैं, गद्य-काव्य लेखक हैं, साथ ही उत्कृष्ट कहानी-लेखक भी हैं। आपकी रचनाओं में दार्शनिक विचारों का पुट रहता है। आपकी कहानियाँ भाव-प्रधान होती हैं। भाषा संस्कृतगर्भित रहती है, पर व्यावहारिक भाषा का भी जहाँ-तहाँ बड़ा सुन्दर प्रयोग मिलता है।

आपकी मुख्य रचनाएँ ये हैं—

कविता—भावुक।

गल्प-संग्रह—अनाख्या, सुधांशु।

गद्यकाव्य—साधना, छायापथ, प्रवाल, संलाप।

'एक वह और एक मैं ! किन्तु मेरा कुछ भी नहीं ! इस जीवन में कोई पद नहीं ! वह समस्त साम्राज्य पर निष्कंटक राज्य करे और मुझे एक-एक कौड़ी के लिए उसका मुँह देखना पड़े ! जिस कोख में उसने नौ महीने बिताये हैं, मैं भी उसी कोख से पैदा हुआ हूँ। जिस स्तन ने शैशव में उसका पालन किया, उसी स्तन से मेरा भी शरीर बढ़ा है। जिस स्नेह से उसका पालन हुआ है, उसी स्नेह का मैं भी पूर्ण अधिकारी था। पिता की जिस गोद में वह बैठकर खेला है, मैंने भी उसी गोद में ऊधम मचाया है। हम दोनों एक ही माता-पिता के समान स्नेह और वात्सल्य के भागी रहे हैं। हम लोगों की बाल्यावस्था बराबरी के खेल-कूद और नटखटी में बीती है। हम लोगों ने एक ही साथ गुरु के यहाँ एक ही पाठ पढ़ा और याद किया। एक के दोष को दूसरे ने छिपाया। एक के लिए दूसरे ने मार खाई। संग में जंगल-जंगल शिकार के पीछे मारे-मारे फिरे। भूख लगने पर एक कौर में से आधा मैंने खाया, आधा उसने। तब किसी बात का अन्तर न था—एक प्राण दो शरीर थे।

'पर आज समय ही तो है। वह सिंहासन पर बैठकर आज्ञा चलाये, मैं उसके सामने भेंट लेकर नत होऊँ। कुत्ते के टुकड़े की तरह जो कुछ वह फेंक दे, सो मेरा। नहीं तो पिता-पितामह की, माता-प्रमाता की, पूर्वजों की इस विशाल सम्पत्ति पर मेरा बाल भर भी अधिकार नहीं ! आह ! दैव-दुर्विपाक ! एक छोटे से छोटे कारबारी के इतना भी मेरा अधिकार नहीं। पूर्व-महाराज की मुझ औरस संतान का कोई ठिकाना नहीं। क्यों इसी संयोगमात्र से कि मैं छोटा हूँ और वह बड़ा। ओह ! यदि आज मैं वणिक-पुत्र होता, तो भी

पैतृक-सम्पत्ति का आधा भाग उसकी नाक पकड़कर रखवा लेता। किन्तु धिक्कार है मेरे क्षत्रिय-कुल में जनमने पर कि मैं दूर्वा की तरह प्रतिक्षण पद-दलित होकर भी जीवित रहूँ। हराभरा रहूँ। 'राजकुमार' कहा जाऊँ—'छोटा महाराज' कहा जाऊँ! ख़ाली घड़े के शब्द की तरह, रिक्त बादल की गरज की तरह कोरा अभिमान कि इधर से उधर टक्कर खाता फिरूँ! शिवनिर्माल्य की तरह किसी अर्थ का न रहूँ। अपने ही घर में, अपने ही माता-पिता के आँगन में अनाथ की तरह ठोकर खाता फिरूँ! बिकर के पिंड की तरह फेंका जाऊँ। आह! यह स्थिति असह्य है! मेरा क्षत्रिय-रक्त तो इसे एक क्षण भर भी सहन नहीं कर सकता। चाहे जैसे हो, इससे छुटकारा पाना होगा। या तो मैं नहीं या यह स्थिति नहीं। देखूँ किसकी जीत होती है।

'एक क्षण का तो काम है। एक प्रहार से उसका अन्त होता है। किन्तु क्या कायरों की तरह धोखे में प्रहार! प्रताप के लिए तो यह काम होने का नहीं, यह तो चोरों का काम है! दस्युओं का काम है! हत्यारों की वृत्ति है!'

कुमार प्रतापवर्धन का चेहरा तमतमाया हुआ था। ओठ फड़क रहे थे। नस-नस में तेजी से खून दौड़ रहा था। मारे क्रोध के उसके पैर ठिकाने नहीं पड़ते थे। संध्या का शीतल समीर उसके उष्ण शरीर से टकराकर भस्म-सा हुआ जाता था। कुमार को बोध होता था कि सारा प्रासाद भूकम्प से ग्रस्त है। अनेकानेक प्रेत-पिशाच उसे उखाड़े डालते हैं। क्षितिज में संध्या की लालिमा नहीं है, भयंकर आग लगी हुई है। प्रलयकाल में देर नहीं।

जिस प्रकार ज्वालामुखी के लावा का प्रवाह आँख मूँदकर दौड़ पड़ता है, उसे ध्वस्त करता चलता है, उसी प्रकार राजकुमार का मानसिक आवेश भी अंधा होकर दौड़ रहा था।

'क्यों प्रताप, आज अकेले ही यहाँ क्यों टहल रहे हो?'

अचानक पीयूषवर्षा हो उठी। राजकुमार की ओर उसकी भाभी—महा-रानी—चली आ रही थीं। महारानी का प्रताप पर भाई जैसा प्रेम, मित्र जैसा स्नेह, और पुत्र जैसा वात्सल्य था। राजकुमार उसके सामने आते ही बालक-जैसे हो जाते। पर इस समय वे कुछ न बोले। महारानी ने फिर प्रश्न किया, पर राजकुमार अवाक् थे। कुछ क्रोध के कारण नहीं, महारानी के शब्द कान में पड़ते ही उनके हृदय को भीषण धक्का लगा था। क्रोध में भारी प्रतिघात हुआ था। और राजकुमार के लिए उस प्रतिघात का सहना असम्भव था। यदि प्रतप्त अंगार औचक शीतल पानी में पड़ जाय तो शतधा फट जाता है। उसी तरह उनके हृदय की दशा हो रही थी। और जब महिषी ने तीसरी बार प्रश्न किया, तब प्रताप बच्चों की तरह रो पड़ा।

राजमहिषी इस गोरखधन्धे को ज़रा भी न समझ सकीं। उन्होंने फिर

कोमलता से पूछा—'बोलो प्रताप, आज क्या बात है—तुम पर ऐसा कौन कष्ट पड़ा कि तुम रो रहे हो, मैंने तो कभी तुम्हारी ऐसी दशा न देखी थी। आज दोनों भाइयों में झगड़ा तो नहीं हुआ ?'

प्रताप के आँसुओं की झड़ी ज्यों की त्यों जारी थी। कष्ट से हिचकियाँ लेते-लेते उसने उत्तर दिया, पर वे समझ न सकीं।

कुमार का हाथ अपने हाथ से थाम कर दूसरा हाथ पीठ पर फेरते हुए वे बोलीं—'शान्त हो, प्रताप ! मेरा हृदय फटा जाता है। बोलो, बताओ, क्या बात है ? चलो तुम्हारा उनका मेल करा दूँ।'

राजमहिषी ने समझा कि इसके सिवा अन्य कोई कारण नहीं। प्रताप ने बड़ी कठिनता से अपने आपको सँभालकर कहा—'भला मैं किस बल पर भाई का सामना करूँगा ?'

'प्रताप, ऐसी कटु बात न कहो। तुम्हें स्नेह का बल है, स्वत्व का बल है। इससे बढ़कर कौन बल हो सकता है। बोलो क्या कारण है ? कहो, मेरा हृदय क्रंदन कर रहा है।'

महारानी का कंठ रुँध गया था, उनकी आँखें भर आई थीं।

'कुछ नहीं भाभी ! मन ही तो है। यों ही कुछ बीते दिनों की याद आ गई। स्नेहमयी माता नहीं, पर तुम तो हो। अब तक मैं निरा बच्चा ही बना हुआ था। बस, यह बचपन की एक तरंग थी।'

'नहीं प्रताप, तुम्हें मेरी शपथ है, मुझे अपना दुःख सुना दो। चाहे तुम्हारा हृदय ऐसा करने से हलका न हो, पर मेरा हृदय अवश्य हलका हो जायगा।'

प्रताप ने उदासीन मुस्कराहट, छूँछी हँसी हँसते हुए कहा—'कुछ नहीं भाभी, कुछ हो तब तो ! संध्या की उदासी, निराली अटारी, मन में कुछ सनक आ गई थी। अब कुछ नहीं। चलिए, आज हम लोग घूमने न चलेंगे ?'

'प्रताप, तुम टाल रहे हो। इसमें मुझे दुःख होता है। आज तक तुमने मुझसे कुछ छिपाया नहीं। जो दुःख-सुख हुआ सब कहा। आज यह नयी बात क्यों ?'

प्रताप फिर बच्चों की तरह सिसकने लगा। उसने महिषी के चरणों की धूलि सिर पर लगा ली।

'भाभी तुम्हारा बच्चा ही ठहरा, कहूँ नहीं तो काम कैसे चले। कहूँगा, सब कहूँगा। पर क्षमा करो। इस समय चित्त ठिकाने नहीं है। फिर पूछ लेना।'

'अच्छा, घूमने तो चलो।'

'नहीं, इस समय मुझे अकेले छोड़ दो भाभी।'

'क्यों तुम्हीं ने अभी प्रस्ताव किया था न ?'

'भाभी, वह कपट था।'

'प्रताप, तुम—और मुझसे कपट करो! कुमार, मैं इसे देवताओं की अकृपा के सिवा और क्या कहूँ, अच्छा जाती हूँ। किन्तु देखो, तुम्हें अपना हृदय मेरे सामने खोलना पड़ेगा।'

रानी भी रोती-रोती चली गई। राजकुमार रिक्त दृष्टि से उसका जाना देखता रहा। फिर वह खड़ा न रह सका, वहीं अटारी के मुँडेरे पर बैठ गया।

महारानी ने देखा कि सम्राट् उद्यान में खड़े हैं। रथ तैयार है, उन्होंने भी महारानी को अकेली आते देखा—उसका उतरा हुआ मुँह देखा, लटपटाती गति देखी। हृदय में एक धक-सी हो गई। पूछ बैठे—

'क्यों प्रताप कहाँ है? और तुम्हारी यह क्या दशा है?'

'कुछ नहीं'—महर्षि ने भराए स्वर से कहा—'चलिए घूमने।'

'आज वह न चलेगा? बात क्या है, कुछ कहो तो?'—महाराज ने रूखे स्वर से पूछा।

भृत्यवर्ग स्तम्भित था, चकित था। हाथ बाँधे हुए खड़ा तो था, पर हृदय में काँप रहा था—क्या होने को है?

राजमहिषी ने महाराज के निकट जाकर धीरे-धीरे कुछ बातें कीं।

महाराज ने कहा—'यह सब कुछ नहीं, चलो प्रताप से एक बार मैं तो बातें कर लूँ।'

× × ×

प्रताप और महाराज आमने-सामने थे। प्रताप की आँखें भूमि देख रही थीं। किन्तु भौंहें तन उठी थीं। महाराज हिमालय की तरह शान्त थे। उन्होंने जिज्ञासा की—

'भाई प्रताप, आज कैसे हो रहे हो?'

किन्तु कुमार ने कोई उत्तर न दिया।

सम्राट् ने उनका हाथ थाम लिया और स्नेह से उसे सहलाने लगे। प्रताप के शरीर में एक झल्लाहट-सी होने लगी। विरक्ति और घृणा से। क्रोध ने कहा कि एक झटका दो और हाथ छुड़ा लो। साहस भी था। पर भ्रातृ-भाव ने यह नौबत न आने दी। तो भी प्रताप ने कोई उत्तर न दिया।

'प्रताप, न बोलोगे? हम लोगों के जन्म जन्म के स्नेह की तुम्हें शपथ है जो मौन रहो।'

'भैया'—यहाँ प्रताप का गला रुक गया। बड़ी चेष्टा करते हुए उसने कहा—'अब स्नेह नहीं रह गया।'

'क्यों, क्या हुआ?' महाराज उस उत्तर से कुछ चकित हो गये।

'भैया—क्षत्रिय-रक्त ने जोर किया और नदी का बाँध टूट गया—' प्रताप

ने वयस्क होने के बाद पहली बार भाई से आँखें मिलाकर कहना शुरू किया—'जिस जीवन की कोई हस्ती न हो, वह व्यर्थ है। हम दोनों सगे भाई हैं तो भी—मैं कोई नहीं और आप चक्रवर्ती! यह कैसे निभ सकता है?'

'तो लो तुम्हीं शासन चलाओ प्रताप!'

महाराज ने अपना खड्ग प्रताप की ओर बढ़ा दिया।

प्रताप ने इस स्थिति की स्वप्न में भी कल्पना न की थी। वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। महाराज साग्रह उसके हाथ में खड्ग देने लगे और वह पैरों पड़ने के सिवा कुछ न कर सका। तब महाराज ने उसे छाती से लगा लिया और समुद्र के-से गम्भीर स्वर में कहने लगे—

'सुनो प्रताप, सम्राट् राष्ट्र की एक व्यक्ति में केन्द्रित सत्ता है। भाई हो अथवा बेटा कोई उसे बाँट नहीं सकता। यह वैभव देखकर न चकपकाओ। राष्ट्र ने अपनी महत्ता दिखाने के लिए और उसे स्वयं प्रभावान्वित होने के लिए इस वैभव को—इन अधिकारों को, राजा से सम्बद्ध किया है। ये अधिकार सम्पत्ति के, विलासिता के, स्वेच्छाचारिता के द्योतक नहीं। यहाँ तराजू की कमाई नहीं है जो तौलकर जुटती और तौलकर ही बँटती भी है। यह है शक्ति की कमाई, और वह शक्ति क्या है? कच्चे सूत हाथी को बाँध लेते हैं, किन्तु कब? जब एक में मिलकर वे रस्सी बन जाते हैं, तब। हाँ, कौटुम्बिक जीवन में यदि हम तुम दो हों तो मैं अवश्य दण्डनीय हूँ! समझे भाई!'

इसी समय राजमहिषी मुस्कराती हुई महाराज से कहने लगीं—'नाथ, इसे लक्ष्मी चाहिए लक्ष्मी—आप समझे कैसी—गृहलक्ष्मी!'

कुमार लज्जित हो गया। फिर वह हँसता हुआ सम्राट् सम्राज्ञी दोनों को सम्बोधित कर कहने लगा—

'क्या समय बिताके ही घूमने चलियेगा?'

प्रश्नावली

१—प्रतापवर्धन के आवेश का कारण क्या था और उसकी शान्ति कैसे हुई?

२—राजमहिषी की बातों का प्रताप के हृदय पर क्या असर पड़ा?

३—सम्राट् का स्वत्व क्या है?

४—निम्नलिखित वाक्यों का अर्थ स्पष्ट कीजिए :—

(क) यह तराजू की कमाई नहीं है जो तौल कर ही जुटती और तौल कर ही बँटती है।

(ख) क्षत्रिय रक्त ने जोर किया और नदी का बाँध टूट गया।

५—इस कहानी में मुहावरों का अपने वाक्यों में प्रयोग कीजिए।

पछतावा

श्री प्रेमचन्द

(सं० १९३७—१९९३)

आपका जन्म काशी के पास मढ़वा नामक गाँव में हुआ। आपका असली नाम धनपतराय है। आप पहले उर्दू में शिक्षा पाते थे। सन् १९१९ से आपने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। आपकी परिमार्जित लेखनी द्वारा निःसृत कहानियों और उपन्यासों की धूम मच गयी। हिन्दी-प्रेमियों ने आपके उपन्यासों पर मुग्ध होकर आपको 'उपन्यास-सम्राट' की पदवी से विभूषित किया।

आपकी कहानियों में चरित्र-चित्रण और मानसिक भावों का विश्लेषण अत्यन्त सुन्दर होता है। आपकी भाषा सीधी-सादी और संगठित होती है। आपके वर्णनों में स्वाभाविकता रहती है। आप वर्ण्य विषय की सजीव प्रतिमा खड़ी कर देते हैं। आपकी मुख्य कृतियाँ ये हैं—

उपन्यास—प्रतिज्ञा, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, निर्मला, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि, गोदान।

नाटक—संग्राम, प्रेम की वेदी, कर्बला।

गल्प-संग्रह—नवनिधि, सप्तसरोज, प्रेमपूर्णिमा, प्रेमपचीसी, प्रेमतीर्थ, प्रेमद्वादशी, प्रेरणा, प्रेमप्रसून, मानसरोवर आदि।

पण्डित दुर्गानाथ जब कालेज से निकले तो उन्हें जीवन-निर्वाह की चिन्ता उपस्थित हुई। वे दयालु और धार्मिक पुरुष थे। इच्छा थी कि ऐसा काम करना चाहिए जिससे अपना जीवन भी साधारणतः सुखपूर्वक व्यतीत हो और दूसरों के साथ भलाई और सदाचरण का भी अवसर मिले। वे सोचने लगे—यदि किसी कार्यालय में क्लर्क बन जाऊँ तो अपना निर्वाह तो हो सकता है, किन्तु सर्वसाधारण से कुछ भी सम्बन्ध न रहेगा। वकालत में प्रविष्ट हो जाऊँ तो दोनों बातें सम्भव है; किन्तु अनेकानेक यत्न करने पर भी अपने को पवित्र रखना कठिन होगा। पुलिस-विभाग में दीनपालन और परोपकार के लिए बहुत-से अवसर मिलते रहते हैं; किन्तु एक स्वतन्त्र और सद्विचारप्रिय मनुष्य के लिए वहाँ की हवा हानिप्रद है। शासन-विभाग में नियम और नीतियों की भरमार रहती है। कितना ही चाहो पर वहाँ कड़ाई और डाँट-डपट से बचे रहना असम्भव है। इसी प्रकार बहुत सोच-विचार के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि किसी ज़मीदार के यहाँ 'मुख़्तार आम' बन जाना चाहिए। वेतन तो अवश्य कम मिलेगा; किन्तु दीन खेतिहरों से रात-दिन सम्बन्ध रहेगा—उनके साथ सद्व्यवहार का अवसर मिलेगा। साधारण-जीवन निर्वाह होगा और विचार दृढ़ होंगे।

कुँवर विशालसिंहजी एक सम्पत्तिशाली ज़मीदार थे। पंडित दुर्गानाथ ने

उनके पास जाकर प्रार्थना की कि मुझे अपनी सेवा में रखकर कृतार्थ कीजिए। कुँवर साहब ने इन्हें सिर से पैर तक देखा और कहा—पण्डितजी, आपको अपने यहाँ रखने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होती, किन्तु आपके योग्य मेरे यहाँ कोई स्थान नहीं देख पड़ता।

दुर्गानाथ ने कहा—मेरे लिए किसी विशेष स्थान की आवश्यकता नहीं है। मैं हर एक काम कर सकता हूँ। वेतन आप जो कुछ प्रसन्नता-पूर्वक देंगे मैं स्वीकार करूँगा।

मैंने तो यह संकल्प कर लिया है कि सिवा किसी रईस के और किसी की नौकरी न करूँगा। कुँवर विशालसिंह ने अभिमान से कहा—रईस की नौकरी नौकरी नहीं, राज्य है। मैं अपने चपरासियों को दो रुपया माहवार देता हूँ और वे तंजेब के अँगरखे पहन कर निकलते हैं। उनके दरवाज़ों पर घोड़े बँधे हुए हैं। मेरे कारिन्दे पाँच रुपये से अधिक नहीं पाते, किन्तु शादी-विवाह वकीलों के यहाँ करते हैं। न जाने उनकी कमाई में क्या बरकत होती है। बरसों तनख्वाह का हिसाब नहीं करते। कितने ऐसे हैं जो बिना तनख्वाह के कारिन्दगी या चपरासगिरी को तैयार बैठे हैं। परन्तु अपना यह नियम नहीं। समझ लीजिए, मुख्तार आम अपने इलाके में एक बड़े ज़मीदार से भी अधिक रौब रखता है। उसका कारबार, उसकी हुकूमत छोटे-छोटे राजाओं से कम नहीं। जिसे इस नौकरी का चसका लग गया है, उसके सामने तहसील-दारी झूठी है।

पंडित दुर्गानाथ ने कुँवर साहब की बातों का समर्थन न किया, जैसा कि करना उनकी सभ्यतानुसार उचित था। वे दुनियादारी में अभी कच्चे थे, बोले—मुझे अब तक किसी रईस की नौकरी का चसका नहीं लगा है। मैं तो अभी कालेज से निकला आता हूँ। और न मैं इन कारणों से नौकरी करना चाहता हूँ, जिन्हें आपने वर्णन किया। किन्तु इतने कम वेतन में मेरा निर्वाह न होगा। आपके और नौकर असामियों का गला दबाते होंगे। मुझसे मरते समय तक ऐसे कार्य न होंगे। यदि सच्चे नौकर का सम्मान निश्चय है, तो मुझे विश्वास है कि बहुत शीघ्र आप मुझसे प्रसन्न हो जायँगे।

कुँवर साहब ने बड़ी दृढ़ता से कहा—हाँ, यह तो निश्चय है कि सत्य-वादी मनुष्य का आदर सब कहीं होता है। किन्तु मेरे यहाँ तनख्वाह अधिक नहीं दी जाती।

ज़मीदार के इस प्रतिष्ठा-शून्य उत्तर को सुनकर पंडितजी कुछ खिन्न हृदय से बोले—तो फिर मजबूरी है। मेरे द्वारा इस समय कुछ कष्ट आपको पहुँचा हो तो क्षमा कीजिएगा। किन्तु मैं आपसे यह कह सकता हूँ कि ईमानदार आदमी आपको इतना सस्ता न मिलेगा।

कुँवर साहब ने मन में सोचा कि मेरे यहाँ सदा अदालत कचहरी लगी ही रहती है। सैकड़ों रुपये तो डिगरी और तजवीजों तथा और और अँगरेज़ी काग़ज़ों के अनुवाद में लग जाते हैं! एक अँगरेज़ी का पूर्ण पंडित सहज ही में मुझे मिल रहा है। सो भी अधिक तनख्वाह नहीं देनी पड़ेगी। इसे रख लेना ही उचित है। लेकिन पंडितजी की बात का उत्तर देना आवश्यक था, अतः कहा—महाशय, सत्यवादी मनुष्य को कितना ही कम वेतन दिया जावे, किन्तु वह सत्य को न छोड़ेगा और न अधिक वेतन पाने से बेईमान सच्चा बन सकता है। सचाई का रुपये से कुछ सम्बन्ध नहीं। मैंने ईमानदार कुली देखे हैं और बेईमान बड़े-बड़े धनाढय पुरुष। परन्तु अच्छा; आप एक सज्जन पुरुष हैं। आप मेरे यहाँ प्रसन्नतापूर्वक रहिए। मैं आपको एक इलाक़े का अधिकारी बना दूँगा और आपका काम देखकर तरक्की भी कर दूँगा।

दुर्गानाथजी ने २०) मासिक पर रहना स्वीकार कर लिया। यहाँ से कोई ढाई मील पर कई गाँवों का एक इलाक़ा चाँदपार के नाम से विख्यात था। पंडितजी इसी इलाक़े के कारिन्दे नियत हुए।

[२]

पंडित दुर्गानाथ ने चाँदपार के इलाक़े में पहुँचकर अपने निवासस्थान को देखा, तो उन्होंने कुँवर साहब के कथन को बिलकुल सत्य पाया। यथार्थ में रियासत की नौकरी सुख-सम्पत्ति का घर है। रहने के लिए सुन्दर बँगला है, जिसमें बहुमूल्य बिछौना बिछा हुआ था, सैकड़ों बीघे की सीर, कई नौकर-चाकर, कितने ही चपरासी, सवारी के लिए एक सुन्दर टाँगन, सुख और ठाट-बाट के सारे सामान उपस्थित। किन्तु इस प्रकार की सजावट और विलास-युक्त सामग्री देखकर उन्हें उतनी प्रसन्नता न हुई। क्योंकि इसी सजे हुए बँगले के चारों ओर किसानों के झोपड़े थे, फूस के घरों में मिट्टी के बर्तनों के सिवा और सामान ही क्या था। वहाँ के लोगों में वह बँगला कोट के नाम से विख्यात था। लड़के उसे भय की दृष्टि से देखते। उसके चबूतरे पर पैर रखने का उन्हें साहस न पड़ता। इस दीनता के बीच में यह ऐश्वर्य उनके लिए न्याय से कोसों दूर था। किसानों की यह दशा थी कि सामने आते हुए थरथर काँपते थे। चपरासी लोग उनसे ऐसा बरताव करते थे कि पशुओं के साथ भी वैसा नहीं होता है।

पहले ही दिन कई सौ किसानों ने पंडितजी को अनेक प्रकार के पदार्थ भेंट के रूप में उपस्थित किये, किन्तु जब वे सब लौटा दिये गये तो उन्हें बहुत ही आश्चर्य हुआ। किसान प्रसन्न हुए, किन्तु चपरासियों का रक्त उबलने लगा। नाई और कहार खिदमत को आये, किन्तु लौटा दिये गये। अहीरों के घरों से दूध से भरा हुआ एक मटका आया, वह भी वापस हुआ। तमोली

एक ढोली पान लाया, किन्तु वह भी स्वीकार न हुआ। असामी आपस में कहने लगे कि धरमातमा पुरुष आये हैं। परन्तु चपरासियों को तो ये नई बातें असह्य हो गई। उन्होंने कहा—हुजूर, अगर आपको ये चीजें पसन्द न हों तो न लें, मगर रस्म को तो न मिटावें।

अगर कोई दूसरा आदमी यहाँ आवेगा तो उसे नये सिरे से यह रस्म बाँधने में कितनी दिक्कत होगी? यह सब सुनकर पंडितजी ने केवल यही उत्तर दिया—जिसके सिर पर पड़ेगा वह भुगत लेगा। मुझे इसकी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता? एक चपरासी ने साहस बाँधकर कहा—इन असामियों को आप जितना गरीब समझते हैं उतने गरीब ये नहीं हैं। इनका ढंग ही ऐसा है, भेष बनाए रहते हैं। देखने में ऐसे सीधे-सादे मानो बेसींग की गाय हैं, लेकिन सच मानिए, इनमें का एक-एक आदमी हाईकोरट का वकील है।

चपरासियों के इस वादविवाद का प्रभाव पंडितजी पर कुछ न हुआ। उन्होंने प्रत्येक गृहस्थ से दयालुता और भाईचारे का आचरण करना आरम्भ किया। सबेरे से आठ बजे तक वह ग़रीबों को बिना दाम औषधियाँ देते, फिर हिसाब-किताब का काम देखते। उनके सदाचरण ने असामियों को मोह लिया। मालगुज़ारी का रुपया जिसके लिए प्रतिवर्ष कुरकी तथा नीलाम की आवश्यकता होती थी, इस वर्ष एक इशारे पर वसूल हो गया। किसानों ने अपने भाग सराहे और वे मनाने लगे कि हमारे सरकार की दिनोदिन बढ़ती हो।

[३]

कुँवर विशालसिंह अपनी प्रजा के पालन-पोषण पर बहुत ध्यान रखते थे। वे बीज के लिए अनाज देते और मजूरी और बैलों के लिए रुपये, फसल कटने पर एक का डेढ़ वसूल कर लेते। चाँदपार के कितने ही असामी इनके ऋणी थे। चैत का महीना था। फसल कट-कटकर खलियानों में आ रही थी। खलियानों में से कुछ नाज घर आने लगा था।

इसी अवसर पर कुँवर साहब ने चाँदपार वालों को बुलाया और कहा—हमारा नाज और रुपया बेबाक कर दो। यह चैत का महीना है! जब तक कड़ाई न की जाय, तुम लोग डकार नहीं लेते। इस तरह काम नहीं चलेगा।

बूढ़े मलूका ने कहा—सरकार भला असामी कभी अपने मालिक से बेबाक हो सकता है? कुछ अभी ले लिया जाय, कुछ फिर दे देंगे। हमारी गर्दन तो सरकार की मुट्ठी में है।

कुँवर साहब—आज कौड़ी-कौड़ी चुकाकर यहाँ से उठने पाओगे। तुम लोग हमेशा इसी तरह हीला-हवाला किया करते हो।

मलूका (विनय के साथ)—हमारा पेट है, सरकार की रोटियाँ हैं, हमको और क्या चाहिए। जो कुछ उपज है वह सब सरकार ही की है।

कुँवर साहब से मलूका की वाचालता सही न गई। उन्हें इस पर क्रोध आ गया; राजा रईस ठहरे। उन्होंने बहुत कुछ खरी खोटी सुनाई और कहा—कोई है! जरा इस बुड्ढे का कान तो गरम करे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें करता है। उन्होंने तो कदाचित धमकाने की इच्छा से कहा, किन्तु चपरासियों की आँखों में चाँदपार खटक रहा था। एक तेज़ चपरासी क़ादिर खाँ ने लपक कर बूढ़े की गर्दन पकड़ी और ऐसा धक्का दिया कि बेचारा जमीन पर जा गिरा। मलूका के दो जवान बेटे वहाँ चुपचाप खड़े थे। बाप की ऐसी दशा देखकर उनका रक्त गर्म हो उठा। दोनों झपटे और कादिर खाँ पर टूट पड़े। धमाधम शब्द सुनाई पड़ने लगा। खाँ साहब का पानी उतर गया, साफा अलग जा गिरा। अचकन के टुकड़े-टुकड़े हो गये। किन्तु ज़बान चलती रही।

मलूका ने देखा, बात बिगड़ गई। वह उठा और कादिर खाँ को छुड़ाकर अपने लड़कों को गालियाँ देने लगा।

जब लड़कों ने उसी को डाँटा, तब दौड़कर कुँवर साहब के चरणों पर गिर पड़ा। पर बात यथार्थ में बिगड़ गई थी। बूढ़े के इस विनीत भाव का कुछ प्रभाव न हुआ। कुँवर साहब की आँखों से मानो आग के अंगारे निकल रहे थे। वे बोले—बेईमान, आँखों के सामने से दूर हो जा। नहीं तो तेरा खून पी जाऊँगा।

बूढ़े के शरीर में रक्त तो अब वैसा न रहा था, किन्तु कुछ गर्मी अवश्य थी। समझता था कि ये कुछ न्याय करेंगे, परन्तु यह फटकार सुनकर बोला—सरकार बुढ़ापे में आपके दरवाजे पर पानी उतर गया और तिसपर सरकार हमीं को डाँटते हैं। कुँवर साहब ने कहा—तुम्हारी इज्जत अभी क्या उतरी है, अब उतरेगी।

दोनों लड़के सरोष बोले—सरकार, अपना रुपया लेंगे कि किसी की इज्ज़त लेंगे?

कुँवर साहब (ऐंठकर)—रुपया पीछे लेंगे। पहले देखेंगे कि तुम्हारी इज्ज़त कितनी है!

[४]

चाँदपार के किसान अपने गाँव पर पहुँचकर पण्डित दुर्गानाथ से अपनी रामकहानी कह ही रहे थे कि कुँवर साहब का दूत पहुँचा और ख़बर दी कि सरकार ने आपको अभी-अभी बुलाया है।

दुर्गानाथ ने असामियों को परितोष दिया और आप घोड़े पर सवार होकर दरबार में हाजिर हुए।

कुँवर साहब की आँखें लाल थीं। मुख की आकृति भयंकर हो रही थी।

कई मुख़्तार और चपरासी बैठे हुए आग पर तेल डाल रहे थे।

पण्डितजी को देखते ही कुँवर साहब बोले—चाँदपारवालों की हरकत आपने देखी?

पण्डितजी ने नम्र भाव से कहा—जी हाँ, सुनकर बहुत शोक हुआ। ये तो ऐसे सरकश न थे।

कुँवर साहब—यह सब आपही के आगमन का फल है, आप अभी स्कूल के लड़के हैं। आप क्या जानें कि संसार में कैसे रहना होता है। यदि आपका बर्ताव असामियों के साथ ऐसा ही रहा तो फिर मैं ज़मींदारी कर चुका। यह सब आपकी करनी है। मैंने इसी दरवाजे पर असामियों को बाँध-बाँध कर उलटे लटका दिया है और किसी ने चूँ तक न की। आज उनका यह साहस कि मेरे ही आदमी पर हाथ चलाये।

दुर्गानाथ (कुछ दबते हुए)—महाशय, इसमें मेरा क्या अपराध? मैंने तो जब से सुना है तभी से स्वयं सोच में पड़ा हूँ।

कुँवर साहब—आपका अपराध नहीं तो किसका है। आप ही ने तो इनको सर चढ़ाया, बेगार बन्द कर दी, आप ही उनके साथ भाईचारे का बर्ताव करते हैं, उनके साथ हँसी-मज़ाक करते हैं। ये छोटे आदमी इस बर्ताव की क़दर क्या जानें। किताबी बातें स्कूलों ही के लिए हैं। दुनिया के व्यवहार का क़ानून दूसरा है। अच्छा जो हुआ सो हुआ। अब मैं चाहता हूँ कि इन बदमाशों को इस सरकशी का मजा चखाया जाय। असामियों को आपने मालगुजारी की रसीदें तो नहीं दी हैं।

दुर्गानाथ (कुछ डरते हुए)—जी नहीं, रसीदें तैयार हैं, केवल आपके हस्ताक्षरों की देर है।

कुँवर साहब (कुछ सन्तुष्ट होकर)—यह बहुत अच्छा हुआ। शकुन अच्छे हैं।

अब आप इन रसीदों को चिराग़अली के सिपुर्द कीजिए। इन लोगों पर बक़ाया लगान की नालिश की जायगी, फ़सल नीलाम करा लूँगा। जब भूखों मरेंगे तब सूझेगी। जो रुपया अब तक वसूल हो चुका है, वह बीज और ऋण के खाते में चढ़ा लीजिए। आपको केवल यही गवाही देनी होगी कि यह रुपया मालगुज़ारी के मद में नहीं, क़र्ज़ के मद में वसूल हुआ है। बस।

दुर्गानाथ चिन्तित हो गये। सोचने लगे कि क्या यहाँ भी उसी आपत्ति का सामना करना पड़ेगा, जिससे बचने के लिए, इतने सोच-विचार के बाद, इस शान्तिकुटीर को ग्रहण किया था? क्या जान-बूझकर इन ग़रीबों की गर्दन पर छुरी फेरूँ, इसलिए की मेरी नौकरी बनी रहे? नहीं यह मुझसे न होगा। बोले—क्या मेरी शहादत बिना काम न चलेगा?

कुँवर साहब (क्रोध से)—क्या इतना कहने में भी आपको कोई उज्र है ?

दुर्गानाथ (द्विविधा में पड़े हुए)—जी, यों तो मैंने आपका नमक खाया है। आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना मुझे उचित है, किन्तु न्यायालय में मैंने गवाही कभी नहीं दी है। सम्भव है कि यह कार्य मुझसे न हो सके। अतः मुझे तो क्षमा ही कर दिया जाय।

कुँवर साहब (शासन के ढंग से)—यह काम आपको करना पड़ेगा, इसमें आगा-पीछा की गुञ्जाइश नहीं। आग आपने लगाई है, बुझावेगा कौन ?

दुर्गानाथ (दृढ़ता के साथ)—मैं झूठ कदापि नहीं बोल सकता, और न इस प्रकार शहादत दे सकता हूँ।

कुँवर साहब (कोमल शब्दों में)—कृपानिधान, यह झूठ नहीं है। मैंने झूठ का व्यापार नहीं किया है। मैं यह नहीं कहता कि आप रुपये का वसूल होना अस्वीकार कर दीजिये। जब असामी मेरा ऋणी है, तो मुझे अधिकार है कि चाहे रुपया ऋण के मद में वसूल करूँ या मालगुज़ारी के मद में। यदि इतनी सी बात को आप झूठ समझते हैं तो आपकी ज़बरदस्ती है। अभी आपने संसार देखा नहीं। ऐसी सचाई के लिए संसार में स्थान नहीं। आप मेरे यहाँ नौकरी कर रहे हैं। इस सेवक-धर्म पर विचार कीजिए। आप शिक्षित और होनहार पुरुष हैं। अभी आपको संसार में बहुत दिन तक रहना है और बहुत काम करना है। अभी से आप यह धर्म और सत्यता धारण करेंगे तो अपने जीवन में आपको आपत्ति और निराशा के सिवा और कुछ प्राप्त न होगा। सत्य-प्रियता अवश्य उत्तम वस्तु है, किन्तु उसकी भी सीमा है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।' अब अधिक सोच-विचार की आवश्यकता नहीं। यह अवसर ऐसा ही है !

कुँवर साहब पुराने ख़ुर्राट थे। इस फैकनैत से युवक खिलाड़ी हार गया।

[५]

इस घटना के तीसरे दिन चाँदपार के असामियों पर बक़ाया लगान की नालिश हुई। समन आये। घर-घर उदासी छा गई। समन क्या थे। देवी देवताओं की मिन्नतें होने लगीं। स्त्रियाँ अपने घरवालों को कोसने लगीं, और पुरुष अपने भाग्य को। नियत तारीख के दिन गाँव के गँवार कन्धे पर लोटा डोरी रक्खे और अँगोछे में चबेना बाँधे कचहरी को चले।

सैकड़ों स्त्रियाँ और बालक रोते हुए उनके पीछे-पीछे जाते थे। मानो अब वे फिर उनसे न मिलेंगे।

पण्डित दुर्गानाथ के लिए ये तीन दिन कठिन परीक्षा के थे; एक ओर कुँवर साहब की प्रभावशालिनी बातें, दूसरी ओर किसानों की हाय-हाय। परन्तु विचार-सागर में तीन दिन तक निमग्न रहने के पश्चात् उन्हें

धरती का सहारा मिल गया। उनकी आत्मा ने कहा—यह पहली परीक्षा है। यदि इसमें अनुत्तीर्ण रहे तो फिर आत्मिक दुर्बलता ही हाथ रह जायगी। निदान निश्चय हो गया कि मैं अपने लाभ के लिए इतने ग़रीबों को हानि न पहुँचाऊँगा।

दस बजे दिन का समय था। न्यायालय के सामने मेला-सा लगा हुआ था। जहाँ-तहाँ श्यामवस्त्राच्छादित देवताओं की पूजा हो रही थी। चाँदपार के किसान झुंड के झुंड एक पेड़ के नीचे आकर बैठे। उनके कुछ दूर पर कुँवर साहब के मुख़्तार आम, सिपाहियों और गवाहों की भीड़ थी। ये लोग अत्यन्त विनोद में थे। जिस प्रकार मछलियाँ पानी में पहुँच कर कल्लोलें करती हैं, उसी भाँति ये लोग भी आनन्द में चूर थे। कोई पान खा रहा था, कोई हलवाई की दूकान से पूरियों के पत्तल लिये चला आता था। उधर बेचारे किसान पेड़ के नीचे चुपचाप उदास बैठे थे कि आज न जाने क्या होगा, कौन आफ़त आयेगी, भगवान का भरोसा है। मुक़दमे की पेशी हुई। कुँवर साहब की ओर से गवाह गवाही देने लगे कि ये असामी बड़े सरकस हैं। जब लगान माँगा जाता है तो लड़ाई झगड़े पर तैयार हो जाते हैं। अब की इन्होंने एक कौड़ी भी नहीं दी।

कादिर ख़ाँ ने रोकर अपने सिर की चोट दिखाई। सबके पीछे पंडित दुर्गानाथ की पुकार हुई।

उन्हीं के बयान पर निपटारा था। वकील साहब ने उन्हें ख़ूब तोते की भाँति पढ़ा रक्खा था, किन्तु उनके मुख से पहला वाक्य निकला था कि मजिस्ट्रेट ने उनकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। वकील साहब बगलें झाँकने लगे। मुख़्तार आम ने उनकी ओर घूरकर देखा। अहलमद, पेशकार आदि सबके सब उनकी ओर आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगे।

न्यायाधीश ने तीव्र-स्वर में कहा—तुम जानते हो कि मजिस्ट्रेट के सामने खड़े हो?

दुर्गानाथ (दृढ़तापूर्वक)—जी हाँ, ख़ूब जानता हूँ।

न्याया०—तुम्हारे ऊपर असत्य भाषण का अभियोग लगाया जा सकता है।

दुर्गानाथ—अवश्य, यदि मेरा कथन झूठा हो।

वकील ने कहा—जान पड़ता है, किसानों के दूध, घी और भेंट आदि ने यह काया-पलट कर दी है। और न्यायाधीश की ओर सार्थक दृष्टि से देखा।

दुर्गानाथ—आपको इन वस्तुओं का अधिक तजुरबा होगा। मुझे तो अपनी रूखी रोटियाँ ही अधिक प्यारी हैं।

न्यायाधीश—तो इन असामियों ने सब रुपया बेबाक़ कर दिया है?

दुर्गानाथ—जी हाँ, इनके ज़िम्मे लगान की एक कौड़ी भी बाक़ी नहीं है।

न्यायालय—रसीदें क्यों नहीं दीं?

दुर्गानाथ—मालिक की आज्ञा।

[६]

मजिस्ट्रेट ने नालिशें डिसमिस कर दीं। कुँवर साहब को ज्यों ही इस पराजय की ख़बर मिली, उनके कोप की मात्रा सीमा से बाहर हो गई।

उन्होंने पंडित दुर्गानाथ को सैकड़ों कुवाक्य कहे—नमकहराम विश्वास-घाती, दुष्ट। ओह, मैंने उसका कितना आदर किया, किन्तु कुत्ते की पूँछ कहीं सीधी हो सकती है। अन्त में विश्वासघात कर ही गया। यह अच्छा हुआ कि पं० दुर्गानाथ मजिस्ट्रेट का फैसला सुनते ही मुख़्तारआम को कुञ्जियाँ और काग़ज़पत्र सुपुर्द कर चलते हुए। नहीं तो उन्हें इस कार्य के फल में कुछ दिन हल्दी और गुड़ पीने की आवश्यकता पड़ती।

कुँवर साहब का लेन-देन विशेष अधिक था। चाँदपार बहुत बड़ा इलाका था। वहाँ के असामियों पर कई हज़ार रुपये बाक़ी थे। उन्हें विश्वास हो गया कि अब रुपया डूब जायगा। वसूल की कोई आशा नहीं। इस पंडित ने असामियों को बिलकुल बिगाड़ दिया। अब उन्हें मेरा क्या डर। अपने कारिन्दों और मन्त्रियों से सम्मति ली। उन्होंने भी यही कहा—अब वसूल होने की कोई सूरत नहीं। काग़ज़ात न्यायालय में पेश किये जायँ तो इनकम टैक्स लग जायगा। किन्तु रुपया वसूल होना कठिन है। उजरदारियाँ होंगी। कहीं हिसाब में कोई भूल निकल आई तो रही-सही साख भी जाती रहेगी और दूसरे इलाकों का रुपया भी मारा जायगा।

दूसरे दिन कुँवर साहब पूजापाठ से निश्चिन्त हो अपने चौपाल में बैठे, तो क्या देखते हैं कि चाँदपार के असामी झुण्ड के झुण्ड चले आ रहे हैं। उन्हें यह देखकर भय हुआ कि कहीं ये सब कुछ उपद्रव न करें, किन्तु किसी के हाथ में एक छड़ी तक न थी। मलूका आगे-आगे आता था। उसने दूर ही से झुककर वन्दना की। ठाकुर साहब को ऐसा आश्चर्य हुआ, मानो वे कोई स्वप्न देख रहे हों।

[७]

मलूका ने,सामने आकर विनयपूर्वक कहा—सरकार, हम लोगों से जो कुछ भूल-चूक हुई उसे क्षमा किया जाय। हम लोग सब हजूर के चाकर हैं, सरकार ने हमको पाला-पोसा है। अब भी हमारे ऊपर यही निगाह रहे।

कुँवर साहब का उत्साह बढ़ा। समझे कि पंडित के चले जाने से इन सबों के,होश ठिकाने हुए हैं। अब किसका सहारा लेंगे? उसी ख़ुर्राट ने इन सबों को बहका दिया था। कड़ककर बोले—वे तुम्हारे सहायक पंडित

कहाँ गये ? वे आ जाते तो ज़रा उनकी ख़बर ली जाती।

यह सुनकर मलूका की आँखों में आँसू भर आये। वह बोला—सरकार उनको कुछ न कहें। वे आदमी नहीं, देवता थे। जवानी की सौगन्ध है, जो उन्होंने आपकी कोई निन्दा की हो। वे बेचारे तो हम लोगों को बार-बार समझाते थे कि देखो, मालिक से बिगाड़ करना अच्छी बात नहीं। हमसे एक लोटा पानी के रवादार नहीं हुए। चलते-चलते हम लोगों से कह गये कि मालिक का जो कुछ तुम्हारे जिम्मे निकले, चुका देना। आप हमारे मालिक हैं। हमने आपका बहुत खाया-पीया है। अब हमारी यही बिनती सरकार से है कि हमारा हिसाब-किताब देखकर जो कुछ हमारे ऊपर निकले, बताया जाय। हम एक-एक कौड़ी चुका देंगे, तब पानी पीयेंगे।

कुँवर साहब सन्न हो गये। इन्हीं रुपयों के लिए कई बार खेत कटवाने पड़े थे। कितनी बार घरों में आग लगवाई। अनेक बार मारपीट की। कैसे-कैसे दण्ड दिये। और आज ये सब आपसे आप सारा हिसाब-किताब साफ करने आये हैं। यह क्या जादू है।

मुख़्तार आम साहब ने काग़ज़ात खोले और असामियों ने अपनी-अपनी पोटलियाँ।

जिसके जिम्मे जितना निकला, बे-कान-पूँछ हिलाये उसने सामने रख दिया। देखते-देखते सामने रुपयों का ढेर लग गया। ६००० रुपया बात की बात में वसूल हो गया। किसी के जिम्मे कुछ बाकी न रहा। यह सत्यता और न्याय की विजय थी। कठोरता और निर्दयता से जो काम कभी न हुआ वह धर्म और न्याय ने पूरा कर दिखाया।

जब से ये लोग मुकद्दमा जीतकर आये तभी से उनको रुपया चुकाने की धुन सवार थी। पण्डितजी को वे यथार्थ में देवता समझते थे। रुपया चुका देने के लिए उनकी विशेष आज्ञा थी। किसी ने अन्न बेचा, किसी ने बैल, किसी ने गहने बन्धक रक्खे। यह सब कुछ सहन किया, परन्तु पण्डितजी की बात न टाली। कुँवर साहब के मन में पण्डितजी के प्रति जो बुरे विचार थे वे सब मिट गये। उन्होंने सदा से कठोरता से काम लेना सीखा था। उन्हीं नियमों पर वे चलते थे। न्याय तथा सत्यता पर उनका विश्वास न था। किन्तु आज उन्हें प्रत्यक्ष देख पड़ा कि सत्यता और कोमलता में बहुत बड़ी शक्ति है।

ये आदमी मेरे हाथ से निकल गये थे। मैं उनका क्या बिगाड़ सकता था? अवश्य वह पण्डित सच्चा और धर्मात्मा पुरुष था। उसमें दूरदर्शिता न हो, कालज्ञान न हो, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह निस्पृह और सच्चा पुरुष था।

[८]

कैसी ही अच्छी वस्तु क्यों न हो, जब तक हमको उसकी आवश्यकता नहीं होती तब तक हमारी दृष्टि में उसका गौरव नहीं होता। हरी दूब भी किसी समय अशर्फियों के मोल बिक जाती है। कुँवर साहब का काम एक निस्पृह मनुष्य के बिना रुक नहीं सकता था। अतएव पण्डितजी के इस सर्वोत्तम कार्य्य की प्रशंसा कवि की कविता से अधिक न हुई।

चाँदपार के असामियों ने तो अपने मालिक को कभी किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाया, किन्तु अन्य इलाकोंवाले असामी उसी पुराने ही ढंग से चलते थे। उन इलाकों में रगड़-झगड़ सदैव मची रहती थी। अदालत, मारपीट, डाँट-डपट सदा लगी रहती थी। किन्तु ये सब तो ज़मीदारी के शृंगार हैं। बिना इन सब बातों के ज़मीदारी कैसी? क्या दिन भर बैठे-बैठे वे मक्खियाँ मारें?

कुँवर साहब इसी प्रकार पुराने ढंग से अपना प्रबन्ध सँभालते जाते हैं। कई वर्ष व्यतीत हो गये। कुँवर साहब का कारोबार दिनोदिन चमकता ही गया। यद्यपि उन्होंने ५ लड़कियों के विवाह बड़ी धूमधाम के साथ किये, परन्तु तिस पर भी उनकी बढ़ती में किसी प्रकार की कमी न हुई। हाँ, शारीरिक शक्तियाँ अवश्य कुछ-कुछ ढीली पड़ती गईं। बड़ी भारी चिन्ता यही थी कि इस बड़ी सम्पत्ति और ऐश्वर्य का भोगनेवाला कोई उत्पन्न न हुआ; भाञ्जे, भतीजे और नवासे इस रियासत पर दाँत लगाये हुए थे।

कुँवर साहब का मन अब इन सांसारिक झगड़ों से फिरता जाता था। आखिर यह रोना-धोना किसके लिए? अब उनके जीवन-नियम में एक परिवर्तन हुआ। द्वार पर कभी-कभी साधु-सन्त धूनी रमाये हुए देख पड़ते। स्वयं भगवद्गीता और विष्णुपुराण पढ़ते। पारलौकिक चिन्ता अब नित्य रहने लगी। परमात्मा की कृपा और साधु-सन्तों के आशीर्वाद से बुढ़ापे में उनके एक लड़का पैदा हुआ। जीवन की आशायें सफल हुईं। दुर्भाग्यवश पुत्र के जन्म ही से कुँवर साहब शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त रहने लगे। सदा वैद्यों और डाक्टरों का ताँता लगा रहता था। लेकिन दवाओं का उलटा प्रभाव पड़ता।

ज्यों-त्यों करके उन्होंने ढाई वर्ष बिताये। अन्त में उनकी शक्तियों ने जवाब दे दिया। उन्हें मालूम हो गया कि अब संसार से नाता टूट जायगा। अब चिन्ता ने और धर दबाया—यह सारा माल असबाब, इतनी बड़ी संपत्ति किस पर छोड़ जाऊँ? मन की इच्छाएँ मन ही में रह गईं। लड़के का विवाह भी न देख सका। उसकी तोतली बातें सुनने का भी सौभाग्य न हुआ। हाय, अब इस कलेजे के टुकड़े को किसे सौंपू, जो इसे अपना पुत्र समझे। लड़के

की माँ स्त्रीजाति, न कुछ जाने न समझे। उससे कारबार सँभलना कठिन है। मुख़्तारआम, गुमाश्ते, कारिन्दे कितने हैं परन्तु सबके सब स्वार्थी, विश्वासघाती। एक भी ऐसा पुरुष नहीं जिस पर मेरा विश्वास जमे। कोर्ट आफ वार्ड्स के सुपुर्द करूँ तो वहाँ भी ये ही सब आपत्तियाँ। कोई इधर दबायेगा कोई उधर। अनाथ बालक को कौन पूछेगा? हाय, मैंने आदमी नहीं पहिचाना। मुझे हीरा मिल गया था, मैंने उसे ठिकरा समझा! कैसा सच्चा, कैसा वीर, दृढ़ प्रतिज्ञ पुरुष था। यदि वह कहीं मिल जावे तो इस अनाथ बालक के दिन फिर जायँ। उसके हृदय में करुणा है, दया है। वह एक अनाथ बालक पर तरस खायगा। हा! क्या मुझे उसके दर्शन मिलेंगे! मैं उस देवता के चरण धोकर माथे पर चढ़ाता। आँसुओं से उनके चरण धोता। वही यदि हाथ लगाये तो यह मेरी डूबती हुई नाव पार लगे।

[६]

ठाकुर साहब की दशा दिन पर दिन बिगड़ती गई। अब अन्तकाल आ पहुँचा।

उन्हें पण्डित दुर्गानाथ की रट लगी हुई थी। बच्चे का मुँह देखते और कलेजे से एक आह निकल जाती। बार-बार पछताते और हाथ मलते। हाय! उस देवता को कहाँ पाऊँ। जो कोई उसके दर्शन करा दे, आधी जायदाद उसके न्योछावर कर दूँ। प्यारे पण्डित मेरे अपराध क्षमा करो। मैं अन्धा था, अज्ञानी था। अब मेरी बाँह पकड़ो। मुझे डूबने से बचाओ। इस अनाथ बालक पर तरस खाओ। हितार्थी और सम्बन्धियों का समूह सामने खड़ा था। कुँवर साहब ने उसकी ओर अधखुली आँखों से देखा। सच्चा हितैषी कहीं देख न पड़ा। सबके चेहरे पर स्वार्थ की झलक थी। निराशा से आँखें मूँद लीं। उनकी स्त्री फूट-फूटकर रो रही थी। निदान उसे लज्जा त्यागनी पड़ी। वह रोती हुई पास जाकर बोली—प्राणनाथ, मुझे और इस असहाय बालक को किस पर छोड़े जाते हो? कुँवर साहब ने धीरे से कहा—पण्डित दुर्गानाथ पर। वे जल्द आवेंगे। उनसे कह देना कि मैंने सब कुछ उनकी भेंट कर दिया। यह मेरी अन्तिम वसीयत है।

प्रश्नावली

(१) दुर्गानाथ के चरित्र की आलोचना कीजिये और उस पर अपनी निष्पक्ष सम्मति प्रकट कीजिये।

(२) क. कुँवर साहब ने किसानों के साथ कैसा व्यवहार किया और उसका क्या परिणाम हुआ?

ख. दुर्गानाथ की सत्यवादिता का असामियों पर क्या प्रभाव पड़ा?

ग. कुँवर साहब को दुर्गानाथ की याद कब आई और क्यों?

(३) निम्नलिखित अवतरणों का अर्थ प्रसंग के साथ लिखिए—

अ. इस दीनता के बीच में यह ऐश्वर्य उनके लिए याद से कोसों दूर था।

ब. बूढ़े के शरीर में अब रक्त तो वैसा न रहा था, पर कुछ गर्मी अवश्य थी।

स. किताबी बातें स्कूल ही के लिए हैं, दुनिया के व्यवहार का कानून दूसरा है।

द. सत्यप्रियता अवश्य उत्तम वस्तु है, पर उसकी भी सीमा है।

(४) निम्नलिखित मुहावरों का अपने वाक्यों में प्रयोग कीजिए :—

बगलें झाँकना, कुत्ते की पूँछ का सीधा न होना, रुपए का डूब जाना, साख जाती रहना, होश ठिकाने होना, डूबती नाव पार लगना।

(५) इन कथनों की आलोचना कीजिए :—

अ. कैसी ही अच्छी वस्तु क्यों न हो जब तक हमको उसकी आवश्यकता नहीं होती तब तक हमारी दृष्टि में उसका गौरव नहीं होता।

ब. सचाई का रुपए से कोई सम्बन्ध नहीं।

(६) शहादत, वसीयत, गुनाह, उज्र, सरकना का अर्थ लिखिए।

मुनमुन

श्री भारतीय एम. ए.

(संवत १९५१)

आपका जन्म संवत् १९५१ है। आपका पूरा नाम सत्यजीवन वर्मा एम. ए. है। आजकल आप प्रयाग में रहते हैं। आप हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग के सुपरिंटेंडेंट हैं। आप लेखक-संघ प्रयाग के संयोजक तथा संघ के मुखपत्र 'लेखक' के सम्पादक हैं।

आप निरभिमान, उदार और सरल प्रकृति के हैं। आप हिन्दी के गद्य-पद्य के सुयोग्य लेखक हैं। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में भी आपकी पूर्ण पहुँच है। आप कहानी और प्रहसन लिखने में सिद्धहस्त हैं।

आपकी प्रमुख रचनाएँ ये हैं—

गल्प-संग्रह—मिस ३५ का पति-निर्वाचन, मुनमुन, आख्यानत्रयी, गृहिणी, भूकम्प।

अनुवाद—स्वप्नवासवदत्ता, दर्पण, प्रायश्चित्त, प्रेम की पराकाष्ठा।

'मुनमुन ! मुनमुन !'—तुतली भाषा में पुकारता हुआ वह चार बरस का लड़का बकरी के काले कनकटे बच्चे के पीछे दौड़ रहा था। मुनमुन उमंग में कूदता, उछलता, कभी लड़के की ओर देखता, पास आता, फिर छलाँग मारकर चक्कर काटने लगता। लड़का उसे पुचकारकर, हाथ की मिठाई दिखाकर, ललचाकर अपने पास बुलाना चाहता। उसे पकड़कर गले लगाने की उसको बड़ी अभिलाषा हो रही थी ; परन्तु वह नटखट मुनमुन—लड़के के बहलावे में नहीं आना चाहता था। ज्यों-ज्यों वह मुण्डा लड़का अपनी हल्दी

में रँगी धोती सँभालता हुआ उसके पीछे दौड़ता, त्यों त्यों वह मुनमुन और मैदान दिखाता था। इसी बीच लड़के के और साथी आ पहुँचे।

साथियों ने लड़के को घेर लिया। सभी उसे आदर और सद्भाव से देखने लगे, जैसे वही अकेला उन सबके बीच भाग्यवान हो! नंगे धड़ंगे, धूलि धूसरित एक लड़के ने उसकी ओर ईर्ष्याभरी, ललचाई आँखों से देखकर कहा—'माधो! तुम्हें तो बड़ी अच्छी-अच्छी चीज़ें मिली हैं, जी!' और वह अपने साथियों की ओर इसके समर्थन की आशा से देखने लगा। माधो के हृदय पर गर्व का प्रभाव अवश्य हो उठा। उसने अभिमान से और मुँह बिचकाकर, सिर हिलाकर कहा, 'हमारा मुंडन नहीं हुआ है? यह देखो यह पीली धोती! यह मिठाई! और नहीं तो क्या। तुम्हारा कहीं मुंडन हुआ है? तुम्हारा होगा तो तुम्हें भी मिलेगा।' प्रश्नकर्त्ता अपने भाग्य पर अवश्य दुखी हो उठा होगा, इसी से वह चुप हो गया; पर उसका एक साथी अनुभवी कूँच में था। उसने कहा, 'क्यों नहीं और जब कूँच से कान छेदा गया होगा, तब न मालूम पड़ा होगा मिठाई और धोती का मतलब?'

उसने उस नवमुंडित लड़के के कान की बाली की ओर इशारा करके कहा—कुछ व्यंग्य से, कुछ अनुभवी के अभिमान से।

सब लड़के निकट पहुँचकर माधो के कानों की परीक्षा करने लगे। कानों की लुरकी में पीतल की छोटी बाली छेदकर पहनाई गई थी। छेदन-क्रिया अभी दो ही दिन पूर्व हुई थी, इसीसे कान सूजे हुए थे; और बालियों की जड़ में रुधिर के सूखे हुए चिन्ह वर्तमान थे। परीक्षा करते-करते एक चिलबिले बालक ने उसे छू दिया। माधो 'सी' करके हट गया। उसकी आँखें सजल हो गईं। लड़का अपनी धृष्टता पर लज्जित और भयभीत हो गया। उसके साथी भी आशंकित हो चुप हो गये। सौभाग्यशाली-सम्पन्न घर के लड़के की पीड़ा का अनुभव उसके गरीब साथी अवश्य करते हैं। माधो चुपचाप अपने कानों की बात सोच रहा था और उनकी पीड़ा की मात्रा से मुनमुन के कष्ट की मात्रा का अन्दाज लगाता था।

वह सोचता था, 'मेरे कान तो जरा छेदे गये हैं; पर उस बेचारे का तो एक कान थोड़ा-सा काट ही लिया गया। कान काटने पर, कान छेदने से दर्द ज़रूर कुछ अधिक होता होगा।' यह उसके बाल-मस्तिष्क की तर्क-शक्ति ने निश्चय किया। वह मुनमुन के प्रति स्नेह और सहानुभूति के भाव से भर गया। उसे इच्छा हुई, मुनमुन को पकड़ कर प्यार करने और उसके कान की परीक्षा करने की। मुनमुन अपनी माँ के थन में मुँह मारता हुआ, अपनी छोटी दुम हिलाता हुआ, तन्मयता से दूध पी रहा था। उसकी माँ जुगाली करती हुई, कभी-कभी रुककर प्रेम और सन्तोष-भरी दृष्टि से

अपने बच्चे को देख लेती—सूँघ लेती थी। माधो ने सोचा—
'इस समय मुनमुन को पकड़ने का अच्छा अवसर है।'

उसने अपनी इच्छा अपने साथियों से प्रकट की। बाल-सेना तुरन्त इस काम के लिए तैयार हो गई। घेरा डाल दिया गया। मुनमुन गिरफ्तार हो गया। फरार असामी पकड़ लिया गया। किसी ने अगली टाँगें पकड़ीं, किसी ने पिछलीं। माधो ने उसके गले में अपनी छोटी बाँहें डाल दीं। सब उसे लेकर आँगन में सूखने के लिए डाले गये पुआल के 'पैर' पर पहुँचे। बैठकर सब मुनमुन का आदर-सत्कार करने लगे। मुनमुन की माँ बच्चों को सचेत करने के लिए कभी-कभी उनकी ओर देखकर 'में में' कर देती, मानो वह कहना चाहती हो, 'बच्चो, देखो मुनमुन का कान न दुखाना !'

मुनमुन अपनी आव-भगत और लाड-प्यार से जैसे ऊब रहा था। मनुष्यों के प्यार की निस्सारता जैसे वह अजपुत्र खूब समझता हो। वह अच्छी तरह कसकर पकड़े जाने पर भी अवसर पाकर कूद-फाँद मचाकर निकल भागने का प्रयत्न करता, विवशता में 'में में' कर माँ को पुकारता, लाचार हो आँखे मूँदकर चुप हो जाता। लड़के उसे कुछ खिलाने की नीयत से उसका मुँह खोलना चाहते ; वह दाँत बैठा लेता। वे उसे चुपकारते, वह अनसुनी कर देता। वे पीठ पर हाथ फेरते ; वह हाथ नहीं रखने देता। पता नहीं, उस छोटे बकरे के अल्प जीवन की किस घटना ने उसे मनुष्यों से शंकित कर दिया था।

संसार में अज्ञान अथवा अभ्यास ही भय की गुरुता की उपेक्षा वा अपेक्षा का कारण होता है। मुनमुन ने धीरे-धीरे अभ्यास से आशंका के महत्त्व को अपेक्षणीय वस्तु समझना सीखा। अब वह अभ्यस्त हो गया था, बच्चों के उपद्रवों का सामना करने में—धीरे-धीरे उसके जीवन में नित्य ये उपद्रव इतने बार घटने लगे कि यह उनके प्रति एक प्रकार की ममता का अनुभव करने लगा। उसे भी अच्छा लगता, उन बच्चों का उसे दौड़ाना, दौड़ाकर पकड़ना ; पकड़कर उसकी साँसत करना, उसकी पीठ पर चढ़ना ; उसके कान पकड़कर उसे खेत की ओर ले जाना ; मुँह खोलकर उसमें बल-पूर्वक कुछ खाने की चीजें ठूँस देना। बच्चों के साथ इस प्रकार उसके पूरे वर्ष बीत गये। अब वह उन्हें एक-एक कर पहचानने भी लगा। उसके अज-मस्तिष्क में बच्चों के व्यक्तित्व की कल्पना निर्गुण रूप में न रहकर सगुण रूप में रहने लगी। इसका प्रमाण उसका आचरण था। वह उस बाल-समुदाय में से माधो को तुरन्त पहचान लेता, उसके पास बिना बुलाये ही—उपेक्षा करने पर भी—बार-बार हटाते जाने पर भी—जा पहुँचता था। अन्य उसके साथियों में से वह उनके गुण और अच्छे-बुरे आचरणों के अनुसार, उसी मात्रा में उनसे स्नेह वा

निर्लिप्सा प्रदर्शन करता। इसी से हम कहते हैं कि वह बकरी का बच्चा भी मनुष्यों की परख कर सकता था !

माधो और मुनमुन की मैत्री, अब कुछ-कुछ आध्यात्मिक स्नेह की सीमा तक पहुँच रही थी, इसे कहते हमें संकोच नहीं होता। बकरे अध्यात्म या उसके किसी रूप का साक्षात् करने के अधिकारी हैं या नहीं—यह प्रश्न ही दूसरा है ; परन्तु हमारे देखने में वह मुनमुन अपने साथी माधो के हृदय के भावों को समझने में असमर्थ होता था, समझने की चेष्टा करता था और उनके प्रति सहानुभूति रखने लगा था। लड़का जब माता या पिता की डाट खाकर अपनी किताबें ले एक कोने में पहुँच दुखी होकर उन्हें उलटकर उनकी आवृत्ति करने बैठता, तो उस समय मुनमुन उसके पास पहुँच उसकी पीठ से अपनी पीठ रगड़ उसे मनाता और अवसर पाकर उसकी पुस्तक हड़प करने की चेष्टा करता। माधो के छीनने पर वह इस प्रकार भाव-भरी आँखों से उसकी ओर देखता मानो कह रहा हो, 'माधो, इन्हें मुझे खा जाने दो, ये मेरे ही योग्य हैं। इन सफ़ेद—नीरस पत्तों पर रँगे हुए चिह्नों में तुम्हारे लिए देखने की कोई वस्तु नहीं है। इसका उचित स्थान मेरा उदर ही है। चलो हम दोनों कहीं दूर—इन बखेड़ों से दूर—किसी ऐसे स्थान में चलें, जहाँ केवल हम हों, तुम हों। तुम मेरी पीठ पर चढ़कर मुझे दौड़ाना, मैं तुम्हें प्रसन्न करने के हेतु छलाँग भरूँगा। तुम मुझे हरी-हरी घास खिलाना। मैं तुम्हारी गोद में मुँह डालकर आँखें मूँद लूँगा। तुम मेरी पीठ पर सिर टेककर सुख से विश्राम करना।' मुनमुन की बातें हम समझें या न समझें (हम समझदार ठहरे) पर माधो के लिए उसकी मूकवाणी हृदय की भाषा थी।

वह माता-पिता के दंड को भूलकर मुनमुन के साथ घर से निकल जाता। फिर दिन भर वह बाग-बाग, खेत-खेत उसे लिये हुए चक्कर काटता। मुनमुन तो हरी-हरी घास देख खाने से न चूकता ; पर माधो का जैसे मुनमुन को भर पेट खिलाने ही में पेट भर जाता था। उसकी भूख-प्यास उस काले कनकटे मुनमुन के रहते उसे सताने का साहस न कर पाती थी।

मुनमुन की आयु अब महीनों के माप से बढ़कर वर्षों में आँकी जाने लगी। माधो सात साल का हुआ। मुनमुन ३६ मास का ही था ; पर वह माधो से अधिक बलिष्ठ, चतुर और फुर्तीला था। कभी-कभी जब दोनों में रस्साकशी होती, तो मुनमुन ही माधो को घसीट ले जाता ; पर यह सब केवल विनोद या खींचा-तानी के लिए ही होता था। यों कभी माधो को मुनमुन ने दिक नहीं किया। वह उसके पीछे फिरता, वह उसके पीछे लगा रहता। दोनों ऐसे हिले-मिले थे, मानो बहुत पहिले के परिचित हों। मुनमुन को देखकर जब

माधो के साथी लड़के उसकी प्रशंसा करते, 'अजी, इसके सींग कैसे सुन्दर हैं ! जरा-सा तेल लगा दिया करो माधो। इसके बाल कैसे चमकते हैं जी। हाथ फेरने में बड़ा अच्छा लगता है। अजी खूब तैयार है माधो तुम्हारा मुनमुन !' और वे माधो की ओर, अपनी सौन्दर्य-प्रियता की अनुभूति से प्रेरित होकर इस आशा से देखते, जैसे माधो यदि उन्हें ऐसा कहने और अपने मुनमुन को प्यार करने से रोकेगा नहीं, तो वे अपने को धन्य समझेंगे। माधो अपने मुनमुन की प्रशंसा सुनता, तो उसके हृदय में मुनमुन के प्रति स्नेह की आग प्रबल हो उठती। उसके जी में एक अज्ञात गुदगुदी होती। वह लपककर मुनमुन को गले लगाकर चूमने और प्यार करने लगता। ऐसे अवसर पर उसके बाल-साथी मुनमुन को सुहलाने की अपनी साध पूरी करने से नहीं चूकते।

नैसर्गिक सौन्दर्य-प्रियता और निस्स्वार्थ प्रेम के ये भाव बच्चों को अपने को भूल जाने में सहायक होते। वे तन्मय होकर माधो के मुनमुन की सेवा-शुश्रूषा में लग जाते। उनका मुनमुन के प्रति स्नेह और सहानुभूति 'भक्तों' की भक्ति से कम न थी।

मुनमुन पर सभी छोटे-बड़े की आँखें लगी थीं। अपनी-अपनी भावना के अनुसार सब उसे अपनी आँखों से देखते ; परन्तु मुनमुन ने जैसे कभी इसकी परवाह ही नहीं की, वह मस्त रहता अपने चरने-फिरने और कुलेल करने में। उसे किसी की दृष्टि और कुदृष्टि की आशंका जैसे थी ही नहीं।; माधो के रहते उसने कभी इस विषय पर सोचने की आवश्यकता ही नहीं समझी।

मुनमुन के जन्म के पश्चात् उसकी माता बकरी ने कम-से-कम एक दर्जन बच्चे दिये होंगे। उसकी माता की कई पीढ़ियों ने इसी प्रकार बच्चे और दूध देकर अनेक वर्षों से स्वामी के कुल की सेवा में अपने कुल की मर्यादा बनाये रखी थी। मुनमुन की माँ अपने उदर के अनेक शिशुओं में केवल मुनमुन ही को देखकर मानो उसका साक्षात् अनुभव कर सकी थी कि उसके बच्चे भी इतने बड़े हो सकते थे। नहीं तो उसने यही समझा था कि जीवन में उसका धर्म केवल बच्चे देना, दूध देना और इसी में सफल-मनोरथ होने के निमित्त—खाना, पीना और निश्चित जुगाली करना है।

मुनमुन को अब माता से उतना सरोकार न रहता और इसीसे कदाचित् उसके प्रति उसका उतना स्नेह नहीं दिखाई पड़ता, जितना कि जन्म के बाद कुछ महीनों तक था ; परन्तु उस बकरी के हृदय में जैसे अब भी मुनमुन के प्रति कोई भाव छिपा था। वह उसे माधो के साथ खेलते या धूप में चारपाई पर लेटे देख जैसे सन्तोष की आँखों से दोनों को निहार कर आशीर्वाद देती थी। मुनमुन कभी-कभी उनके पास पहुँचकर उसकी नाँद से कुछ भूसी-चोकर खा लेता। वह छीन-झपटकर खाने में अपने धर्म की मर्य्यादा समझता ;

उसकी माँ उसकी सीनाज़ोरी पर उदासीनता प्रकट करती हुई सन्तोष से जुगाली करना ही अपना कर्तव्य समझती थी।

मुनमुन की ख़ातिरन कभी-कभी माधो भी उसकी माँ की देख-भाल किया करता। उसकी इच्छा होती कि फिर मुनमुन अपने बचपन की भाँति अपनी माँ का दूध पीता। कभी-कभी वह उसे पकड़कर उसका मुँह उसके थन तक लगा देता; पर मुनमुन उसे अपने छोटे भाइयों का अधिकार समझ उससे मुँह फेर लेता। माधो का मानुषी हृदय उस पशु के इस गुप्त भाव का कदाचित् अनुमान नहीं कर पाता था। संभव है, कभी समझ में आवे; परन्तु उस समय इसे वह मुनमुन की धृष्टता और अपने स्वामी की इच्छा की अवहेलना समझता था और इसी आधार पर वह अपनी न्यायवृत्ति के अनुसार मुनमुन को दण्ड देता।

उसका दण्ड मुनमुन प्रसन्नता से स्वीकार करता और दण्ड ही क्या होता—छोटे-छोटे हाथों के दो-एक थप्पड़ या पीठ पर दो-एक घूँसे। मुनमुन इन दण्ड-प्रहारों पर केवल अपना 'सहर्ष स्वीकार' प्रदर्शन करता और उसके पश्चात् मानो उसके प्रायश्चित्त में अपना शरीर हिलाकर वह गर्द झाड़ देता या सिर हिलाकर अपने सींग नीचे कर देता। फिर दण्डित और दण्ड विधायक दोनों मित्र की भाँति किसी ओर विचरण करने चल देते।

इस प्रकार कुछ दिन और बीते। माधो अब आठ बरस का हो गया। उसका मुनमुन चार साल का पट्ठा हुआ। दोनों देखने में सुन्दर लगते। माधो को देखकर उसका पिता प्रसन्न होता। माँ अपने को धन्य समझती। दोनों के मन में आशा का दीपक और भी प्रकाशमान होता हुआ जान पड़ता। मुनमुन की बूढ़ी माँ अब और भी बूढ़ी हो चली थी। अब वह दूध न देती, उसके बच्चे न होते। यदि बकरी की माँ को कोई अधिकार अपने बच्चों पर रखने का है तो उसी अधिकार से वह भी अपने मुनमुन को देखती, उसे देखकर सुखी होती थी। वह कुछ सोचती थी या नहीं; पर उसकी मुद्रा से यह भाव प्रकट हो सकता था कि वह अपने बुढ़ापे में अपनी आँखों के सामने अपनी एक सन्तान को देखकर सुखी थी और यदि पशु को भी परमात्मा का स्मरण करने का अधिकार है, तो वह निश्चय उस समय परमात्मा का स्मरण करती थी, जब उसे और लोग पुआल पर बैठी आँखें मूँदे जुगाली करते हुए देखते थे। उसके परमात्मा का क्या रूप था, हम नहीं कह सकते; परन्तु यह निश्चय है, उस पशु की कल्पना में परमात्मा का आकार, मनुष्य-सा कदापि न होगा। क्यों? इसका उत्तर वह बकरी या उसकी सन्तान दे सकेगी!

माधो मुनमुन को गाड़ी में जोतने का स्वप्न देखने लगा। वह सोचता था, यदि एक गाड़ी हो जाय तो मैं भी मुनमुन को जोतकर सैर करने निकलूँ।

उस समय उसके अन्य साथी उसकी ओर किन आँखों से देखेंगे—इसकी कल्पना वह बालक कर लेता था ; और उसी कल्पना के परिणाम-स्वरूप अपने हृदय में आई हुई प्रसन्नता से विह्वल होकर वह पिता से गाड़ी बनवा देने का आग्रह करता । नित्य अपने प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत होते देखने की इच्छा करता । पिता 'नहीं, नहीं' करता ; पर मुनमुन को वह ऐसे अवसर पर ऐसी आँखों से देखता, जैसे वह सोचता हो कि 'यही इस झगड़े का घर है ।'

मुनमुन ने मनुष्यों की भाषा सीखने वा समझने का प्रयत्न नहीं किया था । यद्यपि वह इन्हीं के बीच रहता आया है, परन्तु वह उनकी छिपी हुई हृदय की भावनाएँ जैसे भाँपने के योग्य हो गया था । इधर कुछ दिनों से उसे ऐसा जान पड़ा, मानो उसके प्रति लोगों का ध्यान अधिक आकृष्ट हो रहा है । उसे देखकर लोग आपस में कुछ कहते-सुनते थे । कभी-कभी उसे उठाकर उसके बोझ का जैसे अन्दाज़ भी लोग लगाते थे ।

मालिक के घर भी कुछ ऐसी तैयारियाँ या नित्य के साधारण वातावरण में परिवर्तन होते दिखाई देने लगे, जिसे देख मुनमुन को अपने बचपन के किसी कटु अनुभव की स्मृति कष्ट देने लगती । स्मृति बहुत धुँधली और मन्द हो चुकी थी । उसकी पीड़ा की मात्रा यद्यपि अधिक न थी, पर उसके कारण उसे हृदय में एक ऐसी आशंका का उदय होते दीख पड़ा, जिसे मुनमुन का अज-मस्तिष्क सुलझा न सका । वह इसी हेतु कुछ चौंका हुआ, कुछ आशंकित-सा रहने लगा । माधो यह बात न समझ सका । वह कैसे समझता, कान तो एक ही बार छेदा जाता है फिर क्या डर था ? माधो ने अपने 'मुंडन' में मुनमुन के सिर में सिन्दूर लगाते उसके गले में माला डालते देखा था । उसे प्रसन्नता हो रही थी कि उसके 'टूंडन' पर फिर उसके मुनमुन का शृंगार होगा—उसकी पूजा होगी । वह इसपर प्रसन्न था कि उसका मुनमुन इस बार बड़ा-सा सुन्दर-सा है । अब की बार वह स्वयं भी शृंगार करेगा और उसे सजाकर वह अपने साथियों को गर्व से दिखाएगा ।

* * *

कैसे क्या हुआ—हमने उस बलि-विधान को अपनी आँखों देखा नहीं, और देखकर भी हम देखने में समर्थ न होते । पर, दूसरे दिन प्रातःकाल हमने माधो को मुनमुन की खोज में पागल की भाँति इधर-उधर घर के कोने-कोने में झाँकते देखा । द्वार पर नीम की शीतल छाया में भैरवी बज रही थी ।

घर में स्त्रियाँ मंगल-गान कर रही थीं । बाहर बिरादरी के भोज की तैयारी में नौकर-चाकर व्यस्त थे । जानकार चतुर रसोइये, अपनी कार्य-कुशलता की डींग हाँक-हाँककर, अच्छे-अच्छे व्यंजन बनाने का दावा कर रहे थे । छप्पर से छाये हुए, टट्टियों से घिरे चौपाल के एक कोने में मुंशीजी चिलम फूँकते

हुए चूल्हे पर चढ़े 'देग' की देख-रेख में लगे थे। इधर कम लोग आते थे। माधो भी उधर आकर अपने मुनमुन की खोज नहीं पा सकता था। वह क्या समझता कि उसका मुनमुन, इस समय, देवी के चरणों में गति पाकर अपने शरीर का, इस महोत्सव के अवसर पर आये हुए अतिथियों के सन्मुख 'प्रसाद' रूप में अर्पण करने के निमित्त, 'देग' में छिपा है।

लोग अपनी-अपनी धुन में मस्त थे। माधो अपने मुनमुन की खोज में परेशान था। वह किससे पूछता? मुनमुन का पता उसे कौन बतलाता—क्या उसके घरवाले या उस समय वहाँ उपस्थित लोग उसे बतलाते? यदि बतलाते तो क्या बतलाते? बतलाकर क्या समझाते? माधो विक्षिप्त की भाँति भटकता हुआ बकरी के पास चला। मुनमुन की अनुपस्थिति में उसे ऐसा जान पड़ा मानो उसकी माँ ही उसे अपने बच्चे का पता बतला सकती है। वह बाड़े में बँधे पशुओं के बीच से बचकर कोने में बँधी बकरी के पास पहुँचा। बकरी निश्चिन्त बैठी 'पागुर' कर रही थी।

उसके गले में बाँहें डाल, उसकी रूखी भूरी पीठ पर सिर छिपाकर माधो सिसक-सिसक रोने लगा। उसकी अन्तर्वेदना की करुण पुकार किसने सुन पाई? यदि कोई सुन सका होगा, तो वही बकरी या मनुष्यों का वह परमात्मा, जिसे वे सर्वत्र वर्तमान समझते हैं।

रोते-रोते माधो की हिचकियाँ बँध रही थीं। आँसुओं के कारण भींगी पीठ की आर्द्रता का अनुभव कर वह बकरी कभी-कभी प्रश्नात्मक नेत्रों से माधो की ओर देखती। माधो उसकी आँखों से आँखें मिलते ही दुःख से विह्वल हो उठता। वह मुनमुन के विछोह से विकल हो तड़प-तड़पकर रोने लगता। उसके घर का वातावरण उत्सव के चहल-पहल और गाने-बजाने से मुखरित हो रहा था। वायु-मण्डल धूप और सुगन्ध से लदा था। एक ओर हवन के हव्य और आज्य की धूमराशि—दूसरी ओर भोज के व्यंजनों की सोंधी सुगन्ध! इन सबसे अप्रभावित वह बकरी बैठी जुगाली कर रही थी और माधो मुनमुन के लिए भूमि पर पड़ा तड़प रहा था! एक ने, मानो मानव-समाज की हृदय-हीनता का आजीवन अनुभव कर दार्शनिक की उदासीनता प्राप्त की थी—दूसरा मानव-जाति की सभ्यता की वेदी के सोपान की ओर घसीटे जाने पर, बकरी के बच्चे की भाँति छटपटा रहा था।

प्रश्नावली

(१) 'मनुष्य के लाड़-प्यार की निस्सारता जैसे वह अज-पुत्र खूब समझता है;' मुनमुन के पास इस निस्सारता का क्या प्रमाण था?

(२) 'पता नहीं उस छोटे बकरे के ग्राम्य-जीवन की किस घटना ने उसे मनुष्यों से सशंकित कर दिया था' वह कौन-सी घटना थी?

(३) इन अवतरणों के अर्थ प्रसङ्ग के साथ स्पष्ट करो—

क. 'संसार में अज्ञान का अभ्यास ही मद की गुरुता की उपेक्षा का कारण होता है।'

ख. उसके अज-मस्तिष्क में बच्चों के व्यक्तित्व की कल्पना निर्गुण रूप में न रहकर सगुण रूप में रहने लगी।'

ग. 'परन्तु यह निश्चय है उस पशु की कल्पना में परमात्मा का आकार मनुष्य-सा कदापि न होगा।' क्यों ?

घ. 'मालिक के घर भी कुछ ऐसी तैयारियाँ या नित्य के साधारण वातावरण में परिवर्तन होते दिखाई देने लगे, जिसे देख मुनमुन को अपने बचपन के किसी कटु अनुभव की स्मृति कष्ट देने लगी।'

(४) नैसर्गिक सौन्दर्य-प्रियता, दार्शनिक की उदासीनता से क्या समझते हो ?

(५) मुनमुन की जीवन-कथा संक्षिप्त रूप से लिखो ।

(६) इस कहानी में समाज पर किस प्रकार का व्यंग है ?

(७) माधो और मुनमुन में स्नेह का क्रमिक विकास कैसे हुआ ?

परिवर्तन

श्री वीरेश्वरसिंह बी० ए०

कुटी के लिए एक छोटा-सा दीपक काफ़ी है, और मनुष्य-जीवन के लिए एक छोटी-सी बात—परिवर्तन के प्रकाश में अन्धकार के अपरिचित मुस्कुराते हैं, आँखें मिलती हैं, बातें खुलती हैं और एक महान् क्षण में संसार बदल जाता है। एक ज़रा सी नज़र, एक छोटी सी आह, एक उड़ती हुई मुसकान—दुनिया की इन्हीं छोटी-छोटी बातों में तो उसकी आत्मिक शक्ति भरी है—कलेजे में छुरी-सी तैर जाती है, आत्मा कसक उठती है, दिल के साथ ज़मीन-आसमान एक नए रंग में खिल उठते हैं, और हम आश्चर्य से देखते हैं—अरे, यह क्या ?

आज रामू के हृदय को कोई देख सकता तो वह कह उठता—'अरे यह क्या !' वह लबालब हो रहा था, और भरे हुए मानस में उसकी आत्मा ऊपर उठकर खिल रही थी।

रामू फेरी लगाने निकला था। इस जीवन-स्वप्न में, मिट्टी की पृथ्वी पर, मोम के खिलौने बनाना और बेचना कोई अनुपयुक्त रोज़गार नहीं, और रामू यही करता था। वह मोम की चिड़िया बनाता, उनमें लाल, पीला, हरा रङ्ग देता, और उन्हें एक डोरे के सहारे अपनी लकड़ी से झुला देता। वह रोज़ सुबह निकल जाता और शाम होते-होते कुछ न कुछ कमा लाता। रङ्ग-बिरङ्गी

झूमती हुई चिड़ियों की पंक्ति में बालकों के मन उड़कर लटक रहते, और रामू ललचाती हुई आवाज़ में गाता—

'लल्ला की चिरैया है—भय्या की चिरैया है।
जिसके होवेंगे खेलैया, वही लेवेगा चिरैया,
वाह, वाह री चिरैया।'

चलते-चलते रामू ने आवाज़ लगाई—'लल्ला की चिरैया है, भय्या की चिरैया है।'—उसकी भरी बेधती आवाज़ गाँव के घरों में गूँज उठी। बच्चे उछल पड़े। कितने ही घरों में 'अम्माँ......ऊँ ऊँ' और रोना ठुमकना मच गया।

रामू कहता जा रहा था—'जिसके होवेंगे खेलैया, वही लेवेगा चिरैया, वाह, वाह री चिरैया।'

यह चोट थी। बिना बच्चेवालियों ने एक गहरी साँस भरी, और माताओं के अन्तर में, चुपके से, एक अनिर्वचनीय सुख दिप उठा।

रामू चला जा रहा था। ख़रीदनेवाले उसे ख़ुद बुलाते, मोल-भाव करते, और लेते या उसे लौटा देते। कितने ही बालकों ने उसे बुलाया, कितनों ही ने उससे मोल-भाव किया। वह एक चिड़िया दो पैसे में बेचता था, इससे कम में वह किसी को न देता था। जो ले सकते वे लेते, जो न ले सकते वे मन मारकर रह जाते। एकाएक किसी ने रामू को पुकारा—'ओ, चिरैयावाले।'—रामू लौट पड़ा।

एक द्वार पर एक वृद्धा और उसी के पास एक पाँच साल की बालिका, उसी से लगी हुई, आधी उसी पर लदी हुई बैठी थी। रामू के पहुँचते ही वह खिल उठी। वह एक चिड़िया ज़रूर लेगी। भुनभुनाकर उसने कहा—'नानी, वही वह लाल-लाल सी।'

'अच्छा ठहर तो'—वृद्धा बोली—'भय्या कैसे-कैसे दी ये चिरैया?'—वृद्धा ने रामू से पूछा।

'दो-दो पैसे माई!'—रामू बोला।

'ठीक बतलाओ तो ले लूँ एक इस बच्ची के लिए।'—वृद्धा ने कहा। बालिका का हृदय धुप्-धुप् कर रहा था। मन ही मन वह मना रही थी—'हे राम, यह चिरैयावाला मान जाय।' आशा, सन्देह, हर्ष, निराशा, उसके हृदय में कुछ चुभो-से रहे थे। आकांक्षा तड़प रही थी, उम्मीद चकोर-सी आँख लगाए बैठी थी। सौदागर क्या कहेगा? वह क्या कहनेवाला है? यह उसके लिए भाग्य का प्रश्न था! उसके कान सुन रहे थे, जब रामू ने कहा—'नहीं माई, कम-ज्यादा न होगा; दो-दो पैसे तो सभी को देता हूँ।'

वृद्धा ने कहा—'अच्छा, तो तुम्हारी मर्ज़ी दो-दो पैसे तो बहुत हैं।'

सौदागर मुड़ पड़ा। लड़की का चेहरा उतर गया—उसका दिल डूब गया। उसकी आशा कहाँ थी ? चिड़िया के साथ खेलने, उसे उड़ाते हुए दौड़ने और हँसने की खुशियाँ कहाँ थी ?

'नानी, दो पैसे क्या बहुत हैं ?'—उसकी आत्मा चीख़ रही थी।

'सौदागर, तुझे एक पैसा कम करना भी क्या बहुत है ?'—उसकी आकांक्षा बिलख रही थी। बालिका की बड़ी-बड़ी आँखें उस सौदागर को, उन चिड़ियों को अपनी ओर खींच-सी रही थीं। उसमें निराशा आशा गूँगी-सी मुँह फैलाए कह रही थी—'ज़रा ठहरो तो, जाते कहाँ हो ?'

वृद्धा ने बालिका के सिर पर हाथ फेरकर पुचकारकर कहा—'जाने दे बेटी, दूसरा कोई आवेगा तो ले दूँगी।' इस खोखले ढाढ़स को जैसे बालिका ने सुना ही नहीं। वह उठी और डबडबाई आँखों से घर के भीतर चली गई।

किन्तु न जाने क्या बात थी कि आज सौदागर रामू के हृदय में उसी भोली बालिका की निराश आँखें चुभ गईं। वह, 'नहीं' करके लौटा तो, पर उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे वह गङ्गा के किनारे तक जाकर बिना नहाए लौट रहा हो। उसने इस भाव को भुलाने की कोशिश की, किन्तु जाने क्यों वह स्वयं उसमें भूल गया। उस पर जाने कहाँ से चिनगारियाँ बरसने लगीं—'नहीं, मैं ठीक नहीं कर रहा हूँ। उस बेचारी बच्ची के कोमल हृदय पर मैं ईंट मारकर चला आया। उसका चेहरा कैसा उतर गया था! और उसकी आँखें—उफ़!—कैसे देख रही थीं! × × × नहीं, नहीं × × यह ठीक नहीं। रोज़गार का मतलब यह थोड़े ही है कि मैं इस तरह बे-दिल का हो जाऊँ। क्या होता, यदि मैं एक ही पैसे में उसे दे देता तो ? × × कोई घाटे का पहाड़ तो टूट न पड़ता। न सही, एक वक्त तम्बाकू न पीता, बिना साग के खा लेता। × × बच्चों का मन तोड़ना, राम-राम भगवान की मूर्ति तोड़ना है। चलूँ, दे आऊँ पर × × × × अब क्या ? अब तो इतनी दूर चला आया और फिर, रामू, तुम भी पूरे बुद्धू हो। हाँ, रोज़गार करने चले हो कि इन छोटी-मोटी बातों पर ताना-बाना बुनने। इसमें तो यह होता ही है।

'यही हाल रहा तो कर चुके अपना काम। कोई न ख़रीद सके तो इसमें अपना क्या वश ? राम की मर्ज़ी है। × × पर नहीं × × ।'

रामू ने मानो जगकर, ठीक से सिर उठाया। एक साँस के बहाने दिल में हिम्मत भरी। इतने तर्क-वितर्क पर भी उसने देखा कि काम नहीं चल रहा है। कुछ है जो काट-सा रहा है, जो मस्तिष्क के तर्क से अधिक बली है। रामू ने देखा कि चुप रहने से तो विचार उमड़ते चले आते हैं। जिस चीज़ को वह दबाना चाहता है वह उभड़ी ही पड़ती है। इसलिए उसने सोचा कि चिल्लाकर आवाज़ के बहाने, अन्दरवाली चीज़ का उफ़ान बाहर कर दूँ।

इसलिए 'पर × × × नहीं' के बाद उसने सिर ऊपर किया और साँस के बहाने दिल में हिम्मत भरते हुए कहा—'लल्ला की चि × × × ।' पर यह क्या ? उसकी आवाज़ बैठ-सी की गई थी। शब्द उसके गले में अटक रहे। गले में वह ज़ोर ही नहीं रह गया। उसका मन बोलने को कर ही नहीं रहा था उसकी वह शक्ति कहाँ चली गई ? वह चाहता था कि बिना बोले ही उसकी चिड़ियाँ बिक जायँ तो अच्छा। किन्तु किसी ने सामने से उसे रोककर बड़ी गम्भीर आवाज़ में कहा—'चले कहाँ जा रहे हो ?' रामू लौट पड़ा। चाहे जो हो, वह यह न करेगा। बच्चों के ख़ून से खींच खींचकर वह अपना बाग़ नहीं लगाना चाहता था ! उनके मन के टूटे हुए टुकड़ों से अपना महल उठाना उसे असह्य था। उसी दरवाज़े पर पहुँच कर उसने पुकारा—'माई ले लो चिरैया।'

घर के अन्दर आवाज़ पहुँची तो वृद्धा ने कहा—'कौन है ?' पर बालिका की आखें चमक उठीं। निधि को लौटी समझ वह सुख-विह्वल हो गई। वह दौड़कर बाहर गई, फिर दौड़कर भीतर आई—'अरे नानी, वही, वही चिरैया वाला है।' वह कुहुक उठी—'चल चल, जल्दी चल, मेरी नानी, ऊँ ऊँ ऊँ।' वह वृद्धा की ऊँगली पकड़कर खींच ले गई।

'ले लो माई, पैसे ही पैसे ले लो।'—सौदागर ने वृद्धा को देख, आँखों से बालिका पर आशीर्वाद बरसाते हुए कहा।

'लाओ, आख़िर को इतना हैरान हुए, पहले ही दे देते तो ?'—वृद्धा बोली।

बालिका ने झट बढ़कर एक लाल-लाल-सी चिड़िया ले ली वह, खिल उठी। वह कभी हिलती हुई चिड़िया को देखती, कभी अपनी नानी को और कभी सौदागर को। उसका शिशु-हृदय सुख की एक ही तारिका से चमक उठा।

सौदागर चिड़ियाँ पैसे ही पैसे को दे रहा है, यह बात फैलते देर न लगी। उसका सब माल देखते ही देखते बिक गया।

घर पहुँचकर रामू ने देखा कि मूल भी नहीं मिला। दो आने का घाटा रहा और मेहनत अलग। पर उसका हृदय आनन्द से ओत-प्रोत था। उसकी आत्मा खिल रही थी। मुस्कराते हुए पैसों की ओर देखकर वह कह उठा—रामू, तुम्हारे ऐसे खुद बिकनेवालों से रोज़गार न होगा, इसके लिए काठ का हृदय चाहिए।

इतने ही में उसका छोटा बालक बाहर से दौड़ता हुआ आकर लिपट गया—'बाबू गोदी × × ×' रामू ने उसे उठाकर चूम लिया। 'आज तू बड़ा अच्छा लगता है, मेरा लल्ला।'—रामू ने उसे दुलारते हुए कहा। बालक

गोद में और सिमट गया और रामू ने उसे फिर चूमकर हृदय से लिपटा लिया।

बालक को प्यार करके जितनी शान्ति उसे आज मिल रही थी, उतनी कभी न मिली थी।

प्रश्नावली

१. इस गल्प में किस प्रकार के परिवर्तन का दिग्दर्शन कराया गया है? क्या परिवर्तन हुआ और कैसे? रामू के मन के तर्क-वितर्क को अपने शब्दों में चित्रित करो।

२. लेखक के विचार में संसार की आत्मिक शक्ति कहाँ है और वह किस रूप में प्रस्फुटित होती है?

३. इन अवतरणों का भावार्थ प्रसंग के साथ लिखिए।

क. वह लबालब हो रहा था और भरे हुए मानस में उसकी घटना ऊपर उठकर दिख रही थी।

ख. यह चोट थी। बिना बच्चोंवालियों ने एक गहरी साँस भरी और माताओं के अन्तर में, चुपके से, अनिर्वचनीय सुख दिप उठा।

ग. उसमें निराश आशा, गूँगी सी मुँह फैलाये, कह रही थी—ज़रा ठहरो तो, जाते कहाँ हो?

घ. किन्तु किसी ने सामने से उसे रोककर बड़ी गंभीर आवाज़ में कहा—चले कहाँ जा रहे हो?

४. रामू ने अपने बालक को चूमते हुए कहा—'आज तू बड़ा अच्छा लगता है लल्ला!' बालक क्यों बहुत अच्छा लगता था?'

५. वीरेश्वरसिंह की रचनाओं के विषय में कहा जाता है कि 'वे शब्दों का सुनहरा बोलता हुआ चित्र खींचते हैं, जिसमें प्रेरणा होती है।' क्या इसे सिद्ध कर सकते हो?

मौसी

श्री भुवनेश्वरप्रसाद

[१]

मानव जीवन के विकास में एक स्थल ऐसा आता है, जब वह परिवर्तन पर भी विजय पा लेता है। जब हमारे जीवन का उत्थान या पतन, न हमारे लिए कुछ विशेषता रखता है, न दूसरों के लिए कुछ कुतूहल। जब हम केवल जीवित रहने के लिए ही जीवित रहते हैं और जब मौत आती है; पर नहीं आती।'

बिब्बो जीवन की उसी 'मंजिल' में थी। मुहल्लेवाले उसे सदैव से वृद्धा ही जानते थे, मानो वह अनंत के गर्भ से वृद्धा ही उत्पन्न होकर एक अनंत

अचिंत्य-काल के लिए अमर हो गई थी। उसकी 'हाथी से बेंटों की बात' नई नवेलियाँ उसका हृदय न दुखाने के लिए मान लेती थीं। उसका कभी इस विस्तृत संसार में कोई भी था, यह कल्पना का विषय था। अधिकांश के विश्वास-कोष में वह जगन्नियन्ता के समान ही एकाकी थी; पर वह कभी युवती भी थी, उसके भी नेत्रों में अमृत और विष था। झंझा की दया पर खड़ा हुआ रूखा वृक्ष भी कभी धरती का हृदय फाड़कर निकला था, वसंत मे लहलहा उठता था और हेमंत में अपना विरही जीवन-यापन करता था, पर यह सब वह स्वयं भूल गई थी। जब हम अपनी असंख्य दुःखद स्मृतियाँ नष्ट करते हैं, तो स्मृति-पट से कई सुख के अवसर भी मिट जाते हैं। हाँ, जिसे वह न भूली थी उसका भतीजा—बहन का पुत्र--बसंत था। आज भी जब वह अपनी गौओं को सानी कर, कच्चे आँगन के कोने में लौकी—कुम्हड़े की बेलों को सँवारकर प्रकाश या अंधकार में बैठती, उसकी मूर्ति उसके सन्मुख आ जाती।

बसन्त की माता का देहान्त उसके जन्म से दो ही महीने बाद हो गया था और पैंतीस वर्ष पूर्व उसका पिता पीले और कुम्हलाये मुख से यह समाचार और बसन्त को लेकर चुपचाप उसके सन्मुख खड़ा हो गया था......इससे आगे की बात बिब्बो स्वप्न में भी न सोचती थी। कोढ़ी यदि अपना कोढ़ दूसरों से छिपाता है तो स्वयं भी उसे नहीं देख सकता—इसके बाद का जीवन उसका कलङ्कित अङ्ग था।

बसन्त का पिता वहीं रहने लगा। वह बिब्बो से आयु में कम था। बिब्बो, एकाकी बिब्बो ने भी सोचा, चलो क्या हर्ज है; पर वह गई और एक दिन वह और बसन्त दो ही रह गये। बसन्त का पिता उन अधिकांश मनुष्यों में था, जो अतृप्ति के लिए ही जीवित रहते हैं, जो तृप्ति का भार नहीं उठा सकते। बसन्त को उसने अपने हृदय के रक्त से पाला; पर वह पर लगते ही उड़ गया और वह फिर एकाकी रह गई। बसन्त का समाचार उसे कभी-कभी मिलता था। दस वर्ष पहले वह रेल की काली वर्दी पहने आया था और अपने विवाह का निमन्त्रण दे गया, इसके पश्चात् सुना, वह किसी अभियोग में नौकरी से अलग हो गया और कहीं व्यापार करने लगा। बिब्बो कहती कि उसे इन बातों में तनिक भी रस नहीं है। वह सोचती कि आज यदि बसन्त राजा हो जाय, तो उसे हर्ष न होगा और उसे यदि कल फाँसी हो जाय, तो न शोक। और जब मुहल्लेवालों ने प्रयत्न करना चाहा कि दूध बेचकर जीवन-यापन करनेवाली मौसी को उसके भतीजे से कुछ सहायता दिलाई जाय, तो उसने घोर विरोध किया।

दिन दो घड़ी चढ़ चुका था, बिब्बो की दोनों बाल्टियाँ खाली हो गई

थी। वह दुधाड़ी का दूध आग पर चढ़ाकर नहाने जा रही थी कि उसके आँगन में एक अधेड़ पुरुष ५ वर्ष के लड़के की उँगली थामे आकर खड़ा हो गया।

'अब न होगा कुछ, बारह बजे...' वृद्धा ने कटु-स्वर में कुछ शीघ्रता से कहा।

'नहीं मौसी......'

बिब्बो उसके निकट खड़ी होकर, उसके मुँह की ओर घूर कर स्वप्निल स्वर में बोली—बसन्त!—और फिर चुप हो गई।

बसन्त ने कहा—मौसी तुम्हारे सिवा मेरे कौन है? मेरा पुत्र बे माँ का हो गया! तुमने मुझे पाला है, इसे भी पाल दो, मैं सारा खरचा दूँगा।

'भर पाया, भर पाया'—वृद्धा कम्पित स्वर में बोली।

बिब्बो को आश्चर्य था कि बसन्त अभी से बूढ़ा हो चला था और उसका पुत्र बिलकुल बसन्त के और अपने बाबा......के समान था। उसने कठिन स्वर में कहा—बसन्त, तू चला जा, मुझसे कुछ न होगा। बसन्त विनय की मूर्ति हो रहा था और अपना छोटा-सा सन्दूक खोलकर मौसी की सौगातें देने लगा।

वृद्धा एक महीने पश्चात् तोड़नेवाली लौकियों को झाकती हुई बसन्त से जाने को कह रही थी; पर उसकी आत्मा में एक विप्लव हो रहा था। उसे ऐसा भान होने लगा, जैसे वह फिर युवती हो गई। और एक दिन रात्रि की निस्तब्धता में बसन्त के पिता ने जैसे स्वप्न में उसे थोड़ा चूम-सा लिया और......वह बसन्त को वक्ष में चिपकाकर सिसकने लगी।

हो......पर वह बसन्त के पुत्र की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखेगी। वह उसे कदापि नहीं रक्खेगी, यह निश्चय था। बसन्त निराश हो गया था पर सबेरे जब वह बालक मन्नू को जगाकर ले जाने के लिए प्रस्तुत हुआ, बिब्बो ने उसे छीन लिया और मन्नू और दस रुपये के नोट को छोड़कर बसन्त चला गया।

[२]

बिब्बो का दूध अब न बिकता था। तीनों गायें एक के बाद एक बेच दीं। केवल एक मन्नू की बछिया रह गई थी। कुम्हड़े और लौकी के ग्राहकों को भी अब निराश होना पड़ता। मन्नू, पीला कान्तिहीन आलसी मन्नू, सिंदूरी चञ्चल और शरारती हो रहा था और उदासीन बिब्बो लड़ाका और घर-गृहस्थ।

महीने में पाँच रुपये का मनिआर्डर बसन्त भेजता था; पर एक ही साल में बिब्बो ने मकान भी बन्धक रख दिया। मन्नू की सभी इच्छाओं की पूर्ति अनिवार्य थी। बिब्बो फिर समय की गति के साथ चलने लगी! मोहल्ले में

फिर उसकी आलोचना प्रत्यालोचना प्रारम्भ हो गई। मन्नू ने उसका संसार से फिर सम्बन्ध स्थापित कर दिया; जिसे छोड़कर वह आगे बढ़ गई थी; पर एक दिन साँझ को अकस्मात् बसन्त आ गया। उसके साथ एक ठिंगनी गेहुएँ रंग की स्त्री थी, उसने बिब्बो के चरण छुए। चरण दबाये और फिर कहा—मौसी, न हो मन्नू को मुझे दे दो, मैं तुम्हारा यश मानूँगी।

बसन्त ने रोना मुँह बनाकर कहा—हाँ, किसी का जीवन संकट में डालने से तो यह अच्छा है, ऐसा जानता, तो मैं ब्याह ही क्यों करता?

मौसी ने कहा—अच्छा, उसे ले जाओ।

मन्नू दूसरे घर में खेल रहा था। वृद्धा ने काँपते हुए पैरों से दीवार पर चढ़कर उसे बुलाया।

वह कूदता हुआ आया। नई माता ने उसे हृदय से लगा लिया। बालक कुछ न समझ सका, वह मौसी की ओर भागा।

बिब्बो ने उसे दुतकारा--जा दूर हो।

बेचारा बालक दुत्कार का अर्थ समझने में असमर्थ था। वह रो पड़ा।

बसन्त हतबुद्धि खड़ा था। बिब्बो ने मुन्नू का हाथ पकड़ा, मुँह धोया और आँगन के ताख से जूते उतार कर पहना दिये।

बसन्त की स्त्री मुस्कराकर बोली—मौसी क्या एक दिन भी न रहने दोगी? अभी क्या जल्दी है। पर, बिब्बो जैसे किसी दूसरे लोक पहुँच गई हो। जहाँ वह स्वर— संसार का कोई स्वर—न पहुँच सकता हो। पलक मारते मन्नू की खेल की, प्यार की, दुलार की सभी वस्तुएँ उसने बाँध दीं। मन्नू को भी समझा दिया कि वह सैर करने अपनी नई माँ के साथ जा रहा था।

मन्नू उछलता हुआ पिता के पास खड़ा हो गया। बिब्बो ने कुछ नोट और रुपये उसके सम्मुख लाकर डाल दिये—ले अपने रुपये।

बसन्त धर्म-संकट में पड़ा था, पर उसकी अर्धाङ्गिनी ने उसका निवारण कर दिया। उसने रुपये उठा लिये, मौसी इस समय हम असमर्थ हैं; पर जाते ही अधिक भेजने का प्रयत्न करूँगी, तुमसे हम लोग कभी उऋण नहीं हो सकते।

× × ×

मन्नू माता-पिता के घर बहुत दिनों तक सुखी न रह सका। महीने में दो बार रोग-ग्रस्त हुआ। नई माँ भी मन्नू को पाकर कुछ अधिक सुखी न हो सकी। अन्त में एक दिन रात-भर जाकर बसन्त स्त्री के रोने-धोने पर भी मन्नू को लेकर मौसी के घर चल दिया।

वहाँ पहुँचकर उसने देखा कि मौसी के जीर्ण द्वार पर कुछ लोग जमा हैं। बसन्त के एक्के को घेरकर उन्होंने कहा—आपकी यह मौसी है। आज पाँच दिन से द्वार बन्द है, हम लोग आशंकित हैं।

द्वार तोड़कर लोगों ने देखा—वृद्धा पृथ्वी पर एक चित्र का आलिंगन किये नीचे पड़ी है, जैसे वह मरकर अपने मानव होने का प्रमाण दे रही हो।

बसंत के अतिरिक्त किसी ने न जाना कि वह चित्र उसी के पिता का था; पर वह भी यह न जान सका कि वह वहाँ क्यों था!

प्रश्नावली

(१) कहानी के आरम्भ की कौन-कौन-सी मुख्य शैलियाँ हैं? इस कहानी का आरम्भ कैसे हुआ?

(२) इन अवतरणों का भावार्थ लिखो—

क. मानजीवन के विकास में एक स्थल ऐसा आता है जब वह परिवर्तन पर भी विजय पा लेता है।

ख. इसके बाद का जीवन उसका कलंकित अंग था।

ग. बसंत का पिता उन अधिकांश मनुष्यों में था जो अतृप्ति के लिए ही जीवित रहते हैं।

घ. जैसे वह मरकर अपने मानव होने का प्रमाण दे रही है।

च. उसका इस विस्तृत संसार में कोई भी न था, यह कल्पना का विषय था।

(३) क. मुन्नू के प्रति बिब्बो के स्नेह का विकास कैसे हुआ?

ख. जब बसन्त अपने पुत्र को लेने आया तो बिब्बो ने अपने किस मनोभाव का परिचय दिया।

ग. बिब्बो के हृदय में मुन्नू के प्रति इतने स्नेह का क्या रहस्य था?

(४) इस कहानी से लेखक ने मानव-हृदय के किस सत्य की झलक दिखाई है?

(५) 'जब हम अपनी असंख्य दुःखद स्मृतियाँ नष्ट करते है तो स्मृतिपट से कई सुख के अवसर भी मिट जाते हैं?' बिब्बो के जीवन के प्रसंग में यह कथन क्यों किया गया? उसकी व्याख्या कीजिए।

फूटा शीशा

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०

अवस्थीजी कानपुर के बी० एस० डी० कालिज के हिन्दी अध्यापक हैं। आप हिन्दी के एम० ए० हैं। आपने कई ग्रन्थों का निर्माण किया है। आपकी गद्य गाथा तथा तुलसी के चार दल—आलोचनात्मक ग्रन्थ है। अमित पथिक नामक आपका उपन्यास भी छपा है। आपकी १० कहानियों का संग्रह फूटा-शीशा नाम से प्रकाशित हुआ है। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। आपको साहित्य से प्रेम है, लिखने का शौक़ है। हिन्दी साहित्य आपसे अभी बहुत कुछ आशा करता है। आपका स्वभाव मिलनसार, हँसमुख और परिश्रमशील है।

[१]

मेरे घर के ठीक सामने ही एक गिरे हुए भवन के भग्नावशेष को समतल करके एक पट पर बना लिया गया है। उसमें दो कुटुम्बों के दराने होते हैं।

यही इनकी आजीविका का एकमात्र आश्रय है। दोनों कुटुम्बों में स्त्री-राज्य है ; पुरुष अनुचर हैं, अनुमोदक हैं और श्रमजीवी हैं। उनमें स्वतन्त्र आलाप की स्फूर्ति नहीं, वे केवल स्वर मिलानेवाले वाद्य-यन्त्र हैं। श्यामू की बहू अभी कठिनता से पचीस वर्ष की होगी, परन्तु घूँघट के भीतर के छोटे मुँह की छोटी जीभ बिजली के पंखे से भी अधिक गतिशील है। कालिका की नानी वृद्धा है, परन्तु स्वर बड़ा कर्कश है। वह श्यामू की तीन पीढ़ियों का समाचार रखती है। किसी ने उसे कुछ कहा नहीं कि वह एक से एक काली चूड़ियाँ अपने मुँह के ग्रामोफोन पर चढ़ाने लगती है और सुननेवाले दंग रह जाते हैं।

जाति में ये दोनों कुटुम्ब तेली थे। पक्की ईंटों की एक पंक्ति, दो दरानों की सीमा थी। तीसरे-चौथे दिन सूत रखकर यह सीधी की जाती थी, परन्तु यह अधिकतर खिसककर कालिका की नानी का हिस्सा छोटा बना देती थी। बहुत बार झगड़ा इस जड़ सीमा की चेतन गति के कारण हुआ करता था। संभुआ की बहू ने पहले तो सड़क की ओरवाला भाग पसन्द किया, परन्तु जब उसमें गायें घुसकर अरहर खा जाने लगीं तो उसने इस बात पर लड़ना आरंभ किया कि उसे पीछे का भाग मिलना चाहिए। दूसरा कुटुम्ब इस पर बिलकुल तैयार न हुआ। कालिका की नानी वैसे तो गाय हाँकने के लिए उठती ही न थी, परन्तु यदि कोई देखनेवाला समक्ष पड़ गया तो इस प्रकार धीरे-धीरे 'हट, हट' करती हुई उठती, जिससे लोग उसकी सहानुभूति देख भी लें और गाय अरहर खाकर स्वतः चली जाय। कभी-कभी मन के शत्रु-भाव और दिखावटी सहानुभूति के बीच में पड़े हुए उसके वृद्ध शरीर की विचित्र दशा देखने में आती थी।

बड़े छप्पर की आधी फूस गिर जाने से बाँस की नसें उभर आई थीं। इसके नीचे लेटकर सम्भुआ की बहू अपने मोटे, काले बच्चे को दूध पिलाती थी और तारों की ओर टकटकी लगाकर देखा करती थी। वायु के झोंके, चन्द्र और चन्द्रिका तो कभी-कभी भीतर आते ही थे, परन्तु जेठ की लपटें और घाम की ऐंठन दिनभर छप्पर के नीचे दिखाई देती थीं। पानी बरसता था तो सम्भुआ की बहू तो किराये में ली हुई पासवाली कोठरी में चली जाती थी, परन्तु कालिका की नानी को बड़ा कष्ट होता। सम्भुआ की बहू हँसती ; वह अपनी अरहर को मोमजामे से ढक देती और टाट के भीतर भींगनेवाली बुढ़िया की अरहर को देखकर मुसकराती। कालिका की नानी ने कई बार सोचा कि वह उस स्थान को छोड़ दे जिससे संभुआ की बहू को सुख मिले, परन्तु न वह स्वयं ऐसा कर सकती थी और न संभुआ की बहू ही वह चाहती थी। उससे लड़ने में उसे सुख था। उस पर बकने और उसे बकाने में वह प्रसन्न होती थी।

संभुआ का काला लड़का बरम्हा कालिका की नानी से बहुत हिला था

वह भी इसको खिलाया करती और इसी के लिए घर छोड़ने में संकोच करती थी। यह बालक ही दोनों के लिए एक ऐसा अवलम्बन था जिस पर संभुआ की बहू और कालिका की नानी दोनों अपने-अपने प्रेम-वस्त्र टाँगती थीं। दोनों के मिलाव का यही एक केन्द्र-बिन्दु था। सभुआ की बहू गाली देती और लड़ती; कालिका की नानी को कोसती और अपशब्द कहती। कालिका की नानी भी उसका उत्तर उसी तीव्रता से देती। अंचल पसार संभुआ और बरम्हा की मृत्यु को माँगती, परन्तु सबके नेत्र बचाकर झट बरम्हा को गोद ले लेती और चूमकर गुड़ खिलाने लगती।

एक बार झगड़ा इस बात पर बढ़ा कि निकलने के मार्ग पर कौन झाड़ू दिया करे। इसका निर्णय कुछ भी न हो सका। कुछ दिनों तक किसी ने बुहारी न दी और वह स्थान बहुत गन्दा पड़ा रहा। पुरुषों ने मिलकर यह निश्चय किया कि सात-सात दिन की पारी बाँध दी जाय, परन्तु दिनों की कमी-बढ़ती निरन्तर हो जाया करती थी और कालिका की नानी उँगलियों पर उँगलियाँ पटककर मुहल्ले भर को अपने पारीवाले दिन को गिनाया करती। झगड़े की शान्ति का कोई उपाय निश्चित न हुआ। सभुआ की बहू ने मार्ग के अपने आधे भाग में सकही और उसके पति रघुबर को रख लिया। इनके पास किराया देने का कोई सुभीता न था। इन्होंने सभुआ के भाग की सकरी गली में ही बाँस तान लिये और उनपर टाट लपेट दिया। बर्तनों के नाम पर मिट्टी के पात्र और वस्त्रों के नाम पर मैली फटी धोतियाँ, गुदड़ियाँ और चिथड़ों के ढेर थे। रघुबर की सपत्ति में लोहे का मूजा और पाव भर सुतली के लच्छे थे। सकही के कोष में कुकुम की डिबिया और फूटा शीशा था।

इस नए योग से सभुआ की बहू कलह में बलवत्तर हो गई। सकही झगड़े में सभुआ की बहू से भी आगे थी। वह अपने आश्रयदाता की सहायता करना अपना धर्म समझती थी। नीम पर जमा हुआ पीपल का पादप यदि उससे रस ग्रहण करता है, तो शस्त्रधारी बागी के समक्ष पहले अपनी ही गर्दन झुका देता है। कालिका की नानी को नई आपदा का सामना करना था। उसकी जिह्वा की गति में, मुँह की भावभंगी में, हाथों के फैलाव में दूनी गति बढ़ गई। मुँह से फिचकुर बहुत शीघ्र निकलने लगता था। नोंचे हुए केशों का ढेर भी अधिक बढ़ जाता था · परन्तु झगड़ा न मिटा। सकही का पति रघुबर वैसा ही निष्क्रिय था, जैसे कि घर के और पुरुष।

[२]

सकही का दूसरा नाम झुरही भी था। खड़े हुए बाँसों में फटे टाट के भीतर से झुरही का रंग-ढंग मैंने बहुधा अपने कमरे से देखा था। वह प्रातः-काल ही उठ जाती थी और बिना अन्य किसी कार्य में प्रवृत्त हुए अपनी टीन

की डिबिया में तर्जनी डुबोकर कुंकुम का एक बिंदु दोनों भौंहों के बीच में अंकित कर लेती थी। इस कार्य में उसी डिब्बी के ढकने में चिपके हुए एक तिकोनिये शीशे का उसे सहयोग लेना पड़ता था। झुरही गोरी थी; ऐसी जैसी भद्र घर की गोरी महिलायें होती हैं। चरस पीने का उसे बड़ा व्यसन था। इसी के कारण वह तबाह थी। शरीर सूखकर काँटा हो रहा था। अभी अवस्था न होने पर भी खाल पर झुर्रियाँ पड़ी थीं। स्नान करने से बहुत घबराती थी। शरीर पर काफ़ी मैल जमा हुआ था। मोटी फटी धोती कभी किसी धोबी का मुँह नहीं देखती थी। झुरही स्वयं कपड़े धोना जानती ही न थी।

सकही कई आक्रमणों का सामना कर चुकी थी। दरिद्रता का, ज्वर और आयु का राजयक्ष्मा तो शरीर को क्षीण कर ही रहा था, चरस की चसक ने रक्त और माँस सब को सुखा दिया था। लूटे हुए सौन्दर्य में भग्नावशेष अब भी खड़े थे। झुरही जीवन के किसी सुख से हिलगी न थी। उसका सारा सुख-संसार सिमटकर चरस की फूँक में केन्द्रित हो गया था। लम्बी लौ निकालकर खाँसी के झटकों से तमतमाई हुई लोहित आकृति को ताम्रवर्ण से मिलाना ही उसकी प्रतिक्षण की समस्या थी। चरस उसके अनुराग का सोहाग थी।

चरस के लिए झुरही सब कुछ कर सकती थी। इसके लिए वह परिचित-अपरिचित सबके सामने हाथ फैला देती थी। उसी के लिए उसने बूढ़े रघुबर को अपना पति बना रखा था। उसे भोजनों की चिन्ता न थी, उसे वस्त्रों की परवाह न थी, वह चाहती थी केवल चरस। छः आने की पुड़िया देखकर तो वह थिरक उठती। धुएँ के खींचने में उसे आन्तरिक आनन्द मिलता। रघुबर टाट सीकर दिन भर में जो कुछ लाता उसका बड़ा भारी भाग चरस के लिए पृथक् कर लिया जाता था। रोटी कभी-कभी न बनती, परन्तु चरस का आयोजन अनिवार्य था। रघुबर भी चरस का भक्त था, परन्तु इतना नहीं।

दरिद्र-नारायण के सहयोग से सकही और रघुबर के निजी आलसी स्वभाव ने उसके घर को घूर बना रखा था। मिट्टी के पात्रों में गहरी काई लगी थी। गुदड़ी की दुर्गन्ध बड़ी दूर से नाकों तक पहुँच जाती थी। लटके हुए चिथड़े कभी-कभी छिहरकर कालिका की नानी की रसोई में पहुँचकर झगड़ा खड़ा कर दिया करते थे। नमी से रक्षा के लिए एक लम्बा टीन का टुकड़ा पड़ा था। दो-दो ईंटें तकिये के स्थान पर रखी थीं। छाते के कपड़ों की चादर, जिसका कोई आकार न था, सकही के शरीर की रात्रि के शीत से रक्षा करती थी। बूढ़ा रघुबर भी उसी में कभी-कभी सिसियाता हुआ घुस जाता था। घिसी हुई कथरी के टुकड़े की उभरी हुई सीवन झुरही की नीली नसों की भाँति दिखाई देती थीं। झुलसानेवाली वायु से झुरही का बड़ा परिचय था। सूर्य की प्रखर किरणों से उसकी मैत्री थी। शिशिर की कँपानेवाली हवा से उसका अनुराग था।

झुरही पति से प्रति-दिन लड़ा करती थी। अधिकतर झगड़ा खरचे के लिए होता। झुरही रघुबर के पास कई वर्षों से थी। वह अपनी सारी सम्पत्ति इसे प्रसन्न करने के लिए चरस की चिलम पर रख चुका था। मैंने सुना था कि वह बहुत अच्छा कपड़ा पहनता था और बहुत स्वच्छ रहता था। झुरही भी बहुतों के देखने की वस्तु थी; परन्तु इस दम्पति के मेल का महल नग्न स्वार्थ पर ही बना था। यदि एक दिन भी चरस में कोई ढील हुई तो झुरही ने गाली बकना आरम्भ कर दिया और रघुबर ने मारना। रघुबर को झुरही की उतनी ही आवश्यकता थी, जितनी पेट भरने के लिए दाल-भात की होती है।

अब दरिद्रता की अध्यक्षता में जो कलह इस दम्पति में होती थी, उसमें मार झुरही की ओर से और गालियाँ रघुबर की ओर से आरम्भ होती थीं। कई बार रघुबर ने उसे घर से निकल जाने की धमकी दी और वह इस प्रस्ताव से सहमत भी हो गई, परन्तु एक आध दिन के बाद वह फिर रघुबर के ही वहाँ आ जाती। एक दिन झुरही की फूटे शीशेवाली सोहाग की डिब्बी न जाने कहाँ खो गई। झुरही व्याकुल थी। उसका भाल सूना था। वह ढूँढ़ते-ढूँढ़ते व्यथित हो गई। श्यामू की बहू ने समझाया, परन्तु उसका रोना बन्द न हुआ। रघुबर ने पुचकारा, परन्तु उसका क्रोध उबल उठा। दो दिनों तक वह बिना खाये-पिये कथरी में मुँह छिपाये रोती रही। अन्त में जब रघुबर ने कहीं से डिब्बी को निकालकर झुरही के हाथ में दे दिया, तो उसके चेहरे में कुछ मुसकुराहट दौड़ी। उसने फूटे शीशे को सामने करके अपने भाल पर कुंकुम का एक बिन्दु रख लिया। झुरही कुछ और प्रसन्न हुई, परन्तु शीघ्र ही तमककर खड़ी हो गई और कर्कश स्वर से कहने लगी—'तूने ही मेरी डिब्बी चुराकर रख ली थी।'

रघुबर ने कहा—'नहीं भाई, मैं क्या जानू, मुझे तो यहीं पड़ी मिली है।'

झुरही ने फिर तमककर कहा—'तू झूठा है; आज से तेरा मुँह न देखूँगी।' इतना कहती हुई वह निकलकर चल दी। पीछे भूलकर भी उसने न देखा। रघुबर समझता था कि एकाध दिन में ठोकर खाकर वह आ ही जायगी। परन्तु झुरही के उपवास के शरीर में क्रोध का भोजन शक्ति दे रहा था। वह कई दिन तक न आई। रघुबर ने सकही को भुलाने का प्रयत्न किया और भूल भी गया। कभी-कभी कुछ ध्यान आ जाता, परन्तु उसकी कर्कशता उस चित्र को सहसा मिटा देती।

मैंने इस विच्छेद की सारी गाथा सुनी। मुझे इस बात पर बड़ा कौतूहल था कि पति से इतनी विमुख, उसे मारने में भी संकोच न करनेवाली सकही के लिए अपने सोहाग चिन्ह में क्यों इतना आकर्षण है! इस रहस्य को मैं समझता न था। झुरही का मैंने कई बार पता लगाया, परन्तु कोई परिणाम

न हुआ। कुंकुम लगाने के बाद वह मुझे प्रतिदिन पालागन किया करती थी। उसके सहसा चले जाने से मुझे कुछ कमी-सी दीखने लगी और झगड़े की कमी के कारण मुहाल कुछ सूना मालूम होने लगा।

[३]

एक वर्ष व्यतीत हो गया। पेंसिल की लिपि की भाँति झुरही की स्मृति भी मेरे मन में अस्पष्ट हो गई थी। मैं लखनऊ की नरही गली में घूम रहा था। अनायास एक कोने से एक शब्द सुनाई दिया—'बाबू एक पैसा!'

मेरा ध्यान उधर गया। झुरही उर्फ सकही मुझे देखकर मुसकरा तो दी, परन्तु लज्जित हो गई। मैंने मुसकराते हुए कहा—'सकही, यहाँ कहाँ? कानपुर क्यों छोड़ आई? रघुबर तुझे याद करता है। मुहाल सूना हो गया।'

सकही के मुँह पर रंग दौड़ गया। उसने पहले पालागन किया और फिर कहने लगी, 'बाबूजी मुझे बड़ा कष्ट था। आपकी बड़ी कृपा है। मुझे और किसी की परवाह नहीं।'

सकही के भाल पर कुंकुम दमक रहा था। मुझे उस पर बड़ी दया आई। मैंने उसे एक रुपया निकालकर दे दिया। सकही ने उसे आग्रह-पूर्वक वापस कर दिया और केवल एक आना लेकर कृतकृत्य हो गई। मैंने थोड़ा हँसकर कहा—'सकही, यह तो बता कि तू चरस अब भी पीती है न?'

सकही ने दाँत निकालकर थोड़ा मुसकराते हुए कहा—'बाबू वह कैसे छूट सकती है? वह तो मरने पर ही छूटेगी।'

मैं हँस दिया। मैंने कहा—'सकही, कानपुर चलेगी?' वह कुछ न बोली। मैं चलने ही को था कि अचानक कौतूहलवश एक प्रश्न मेरे मन में उदित हुआ जो बहुत दिनों से मुझे विकल कर रहा था। मैंने पूछा—'सकही यह तो बतला कि तू रघुबर से तो प्रेम नहीं करती, परन्तु कुंकुम से तेरा इतना स्नेह क्यों है? तेरा फूटा शीशा कहाँ है?'

'बाबू, यह न पूछो। फूटा शीशा और कुंकुम मेरे पास अब भी है। उससे किसी का कोई सम्बन्ध नहीं।' इतना कहते-कहते उसके मन में उन्माद दौड़ गया। वह तिलमिला सी गई। 'बाबू, अब मैं जाती हूँ' इतना कहकर उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही बड़े वेग से हजरतगंज की ओर भागती हुई चली गई। मैं खड़ा ही रह गया।

यह मेरा अपमान न था। फूटे शीशे और कुंकुम के नाम से ही उसे कोई ऐसी गहरी ठेस का स्मरण हुआ कि सारी सजग परिस्थितियाँ विचार बवंडर में पड़कर किसी अज्ञात प्रदेश में लीन हो गईं। इस उन्माद के परिचय से मुझमें एक नए कौतूहल की सृष्टि हुई। कानपुर लौटकर मैंने सकही का जीवन-वृत्तांत विस्तारपूर्वक जानने का बहुत प्रयत्न किया; परन्तु कोई विशेष जान-

कारी प्राप्त न हो सकी। रघुबर भी कुछ न बता सका। वह केवल उसे बुरा-भला कहता रहा। उसमें सकही का समाचार सुनकर तनिक भी उत्कंठा जाग्रत न हुई। प्रत्युत ऐसा प्रतीत होता था कि वह इस बात से भयभीत है कि कहीं सकही कानपुर न आ जाय।

[४]

सारा संसार संतुष्ट है और सारा संसार असन्तुष्ट। प्रत्येक प्राणी को इस खिचड़ी का भाग मिला है; कहीं दाल अधिक; कहीं भात अधिक। मेरे भाग में असन्तोष अधिक है। इस असन्तोष में सकही के इतिहास का कौतूहल बड़ा महत्त्व रखता था। मैंने उसके पूर्व जीवन के सम्बन्ध में बड़ी खोज की, परन्तु बहुत दिनों तक कोई सफलता न हुई।

एक दिन सरकार की ओर से जन-संख्या की गणना हो रही थी। बेकार व्यक्तियों का एक समुदाय गणकों के पीछे घूम रहा था। रघुबर के घर में किसी ने सकही का भी नाम लिख दिया था। सकही के पिता का नाम अधीन तेली लिखा था। जब निरीक्षण के दिन सकही का कोई पता न लगा, तो गणकों और श्यामू की बहू में कुछ हँकरा-तुकरी होने लगी। कालिका की नानी भी कुछ बड़बड़ा रही थी; मैंने ऊपर से यह विवाद सुना। मेरे बीच में पड़ने से मामला शांत हो गया। मुझे एक नए तत्व का पता लगा कि झुरही अधीन की लड़की है।

अधीन तेली मुहल्ले का एक प्रसिद्ध रईस था। उसके पास लोग दो लाख की सम्पत्ति का अनुमान करते थे। अपनी जाति के मदार-वृक्षों में वह एरण्ड-द्रुम था। उसने न जाने कितने तेलियों का मांस-मदिरा छुड़ाकर उन्हें कंठी पहनवा दी। मदार और सैयद बाबा की मनौती के स्थान पर महावीर और बजरंगबली की अर्चना आरम्भ हो गई। तेलियाने भर में अधीन की बड़ी धाक थी। वह बड़ा उदार था; बड़ा पटु था। बड़े-बड़े लोगों से उसका मेल था। उसकी मृत्यु को अभी दो वर्ष भी न हुए थे। उसका वृद्ध सेवक रजना मेरे यहाँ बहुधा आया-जाया करता था, इस बार रजना आया, तो मैंने झुरही का हाल पूछा।

'बाबूजी आपको नहीं मालूम क्या?'—रजना ने कहा—'बेचारी को दुःख ही मिला।'

मैंने फिर उत्सुकता से कहा—'भाई, मुझे पूरा-पूरा हाल बतलाओ।' वह बोला—'निरते में सुनना बाबूजी, मैं अभी एक घण्टे में आऊँगा!'

मैं बड़ी अधीरता से रजना की राह देखता था। झुरही के सम्बन्ध में न जाने कितने काल्पनिक चित्र मेरी आँखों के सामने नाचने लगे। उसकी फटी धोती, उसका कुंकुम, उसका फूटा शीशा, उसका हाथ फैलाकर नरही में भिक्षा माँगना। युवावस्था के उसके रूप व लावण्य की भी कल्पना मूर्तिमान हुई। सुन्दर साड़ी में झिलमिलाती हुई ज्योति भी मेरी आँखों में भासित होने

लगी। इतने में रजना आ गया।

'कहो बाबू, बैठे हो!'

'हाँ भाई, सुनाओ। बड़ी अधीरता है।' रजना टाट पर बैठ गया। तमाखू पर दो हाथ फटाफट मारकर रजना ने कथा आरम्भ की। लगभग एक घण्टे में उसने सारी कथा समाप्त कर दी। मेरे चित्त में विचित्र कुतूहल था; सहानुभूति थी, करुणा थी और झुरही के लिए असीम अनुकम्पा थी। तीन दिनों के पश्चात् मुझे लखनऊ जाने का अवसर फिर मिला। मैंने झुरही का बहुत अन्वेषण किया परन्तु कोई निश्चित पता न लगा। एक दिन ताँगे पर मैं गणेशगंज जा रहा था कि एक पतली औरत दौड़ती हुई दिखाई दी। कई बालक उसके पीछे थे। मैंने सकही को पहचान लिया और बुलाया। वह रुकी और कुछ बड़बड़ाती हुई बैठ गई। मुझे वह बिल्कुल न पहचान सकी। उसके विचार-विधान के तंतु किसी विशेष झटके से उलझ गये थे। वह बीच सड़क पर बैठ गई। धीरे से सिंदूर की डिबिया निकाली। फूटा शीशा लेकर तर्जनी से एक बिन्दु अपनी दो मोटी-मोटी भौंहों के बीच में रखा और झट से डिबिया छिपा कर भागी। मैंने ताँगे को छोड़ दिया और झुरही के पीछे चल दिया। थोड़ी देर में वह एक अत्यन्त प्राचीन विशाल महल के गिरे हुए एक कोठे में घुस गई। वह किसी धनी का किसी समय का विशाल प्रासाद था, जो चमगीदड़ों और कपोतों के लिए रिक्त कर दिया गया था।

इस लैला-मंजिल में कई भिक्षुक रहते थे। टूटे-फूटे प्रासादों को बड़े लोग कलंक समझ कर जब परित्याग कर देते हैं तो कंगालों के भाग्य खुलते हैं। धनिक का बालक जितनी ही अधिक संख्या में अपनी पाठ्य-पुस्तकें पुरानी करता है, उतना ही दरिद्र विद्यार्थियों को लाभ होता है।

बड़ी देर तक मैं बाहर खड़ा रहा। झुरही निकली नहीं। मैं उसकी कोठरी में घुसा। एक कोने में बैठी-बैठी वह कुछ बड़बड़ा रही थी। निकट ही रोटियों के बासी टुकड़े पड़े थे। मैंने कई बार 'झुरही' 'झुरही' कहा। उसने मुझे देखा और नेत्र नीचे कर लिए। फिर बड़बड़ाने लगी। वह जो कुछ बक रही थी वह न कोई भाषा थी और न बोली। मैं समझ गया कि झुरही मुझे पहचान नहीं सकी। उसकी विक्षिप्तता सीमा तक पहुँच गई है। कुछ दुखी, कुछ शोकार्त होकर मैं वहाँ से चल दिया।

लखनऊ में मैं मुन्शी राजाराम मुंसिफ के यहाँ ठहरा था। उनका मुझसे पुराना परिचय था। मुझे अन्यमनस्क देखकर वह हँसी उड़ाने लगे। मुझे सकही की कुछ चरचा करनी पड़ी और पूरा वृत्तांत सायंकाल के लिए स्थगित कर दिया गया। शाम भी आई। प्रसंग छिड़ा। मैंने उसकी कथा आरम्भ की—

'तुम्हें यह तो मालूम ही है कि कानपुर में मेरे घर के आस-पास दराना

होता है और तेली रहते हैं। इन तेलियों में अधीन नाम का एक प्रसिद्ध धनिक तेली रहता था। मुनिया नाम की उसकी एक सुन्दरी कन्या थी। वह चौथी कक्षा तक पढ़ी थी। अधीन बड़ा सुधारक था, अतएव वह अपनी कन्या का किसी अच्छे घर में विवाह करना चाहता था। मुनिया केले की भाँति कोमल किसलय की भाँति सुकुमार और फूल की भाँति सुगन्धित थी। अधीन के कुछ निजी विचार कन्या के विवाह के सम्बन्ध में थे उसने उन्हें किसी तर्क अथवा विवेक पर स्थिर न किया था। वह पढ़ा-लिखा भी कम था। लक्ष्मी की एकांगी उपासना के कारण सरस्वती की आराधना का उसे बिलकुल अवकाश न था। उसे जो कुछ भी व्यावहारिक कुशलता थी, वह सत्संग के कारण। उसके सिद्धान्त सामाजिक रूढ़ियों से प्रस्तुत केवल परिवर्तन-मात्र थे। जब तेलियों में अच्छा वर न मिला तो इस सोलह वर्ष की कन्या को अधीन ने छत्तीस वर्ष के एक तेली ज़मींदार के साथ ब्याह दिया। इस जमींदार का नाम विनोद था। थोड़ा बहुत पढ़ा भी था। हृदय में स्नेह था और भावनाओं में नियन्त्रण। सूतनपुरवा में इसकी मढ़ी थी। पुराने जातीय संस्कार इसके घर से उतने बहिष्कृत न थे जितने अधीन के यहाँ से।

सुन्दर नव-बधू के रूप में मुनिया सूतनपुरवा आई। अनुपम लावण्य था। पति के लिए अनुपम अनुराग था। विनोद कुछ ढलता हुआ युवा परन्तु सुदृढ़ प्रेमी था। मुनिया जब उसे पहली रात्रि को मिली तो उसने एक डिब्बी से सिंदूर निकालकर तर्जनी से भौंहों के बीच में एक बिन्दु रख दिया। आकृति जगमगा उठी। मुनिया पति को देख रही थी। विनोद ने फिर मुनिया के शीशे को उसके समक्ष कर दिया। झिलमिले प्रकाश में मुनिया के सामने कुंकुम बिन्दु दिखाई दिया। विनोद का हाथ काँप गया। डिब्बी गिर गई; शीशा फूट गया। मुनिया ने झट उसे उठाकर बन्द करके अपने निकट रख लिया।

राजाराम बड़ी अधीरता से झुरही का वृत्तान्त सुन रहे थे। कथामाला का आगामी पोत आर्द्र था अतएव उँगलियाँ फिसल गईं। वाणी कुछ ठिठकी और मैं सहसा रुक गया। 'हाँ तो क्या हुआ?'—राजाराम ने कहा।

मैंने साहस-पूर्वक फिर कहना आरम्भ किया—'इतने ही क्षणिक साक्षात् से इस दम्पति में अपार प्रेम दौड़ गया। मुनिया के नेत्र हँसते थे। विनोद ने मुनिया की ठोढ़ी को हाथ से पकड़ा। कपोलों पर सुन्दर रंगों का आना-जाना प्रारम्भ हो गया, प्रेम और लज्जा बारी-बारी दिखाई देने लगे। आधी स्वीकृति में आधी अस्वीकृति उलझी हुई थी।

'नीचे बन्दूक का शब्द सुनाई दिया। शृंगाररस के स्वप्न को तोड़कर दंपति खड़े हो गये, तुरंत धड़ाधड़ के शब्द ने घर को आक्रान्त कर लिया। 'डाकू! डाकू!!'—यह शब्द सुनाई दिया। विनोद ने घबराकर किवाड़ खोल

दिए। मुनिया सिकुड़कर बैठ गई। डाके का घमासान कई घंटे रहा। विनोद ने लक्ष्मी की रक्षा में प्राण खोये। मुनिया के आभूषण शीघ्रता से न उतर सके। हनूमान पर्वत-समेत संजीवनी बूटी उठा ले गये। शृंगार पर करुणा का रस पुत गया।'

राजाराम के आँसू छलछला आये। मेरा भी कंठ रुँध गया। 'बड़ी कारुणिक गाथा है' राजाराम ने साँस खींचकर कहा 'फिर क्या हुआ? मुनिया सकही कैसे हो गई?'

मैंने कथा फिर आरंभ की। राजाराम ध्यान से सुनने लगे।

'इस आपत्ति में भी मुनिया ने फूटे शीशे वाली सिंदूर की डिब्बी को दुःख में भगवत् नाम की भाँति न छोड़ा। चतुष्पदों के खुरों से मसली हुई अनायास पतिता एक कली की भाँति मार्ग के एक कोने पर निःसंज्ञ पड़ी हुई मुनिया पुलिसवालों को मिली। वह तुरंत अस्पताल भेजी गई। उसकी करुण कहानी करुणा की निजी कहानी थी। आततायियों ने उसे सभी प्रकार से नष्ट किया था और अर्धमृत अवस्था में मार्ग में छोड़कर चले गये थे। अस्पताल से अच्छी होकर मुनिया बाहर तो निकली, परन्तु उसके लिए सब द्वार अवरुद्ध थे। इधर देवर ने डाकुओं के घर रही हुई भावज को घर में आने देना ठीक न समझा; उधर पिता इस प्रयत्न में थे कि किसी प्रकार मुनिया सूतनपुरवा ही में रहे। दोनों ओर के द्वार जब झटके से आवृत हो गये तो मुनिया ने उसी द्वार पर धरना देना अधिक उचित समझा जहाँ पर इतने दिनों तक पली थी। उसे विश्वास था कि उसके माता, पिता, भाई, ताऊ इत्यादि उसके लिए सजीव हृदय रखते हैं। परन्तु उसे धोखा हुआ। समाज के भय ने वात्सल्य प्रेम को अछूत की भाँति बहिष्कृत कर दिया था।

'तीन दिन तक निरन्तर रोती हुई मुनिया अधीन के द्वार पर पड़ी रही। फूटे शीशे को सामने लेकर वह कुंकुम का बिन्दु प्रतिदिन अंकित कर लेती थी। दूर से भोजन दिया जाता था। एक दिन वह ग्लानि से भरकर चुपके से निकल गई। अधीन ने सपरिवार आश्वासन की साँस ली। कई दिनों के बाद सुना गया कि मुनिया रघुबर तेली के घर बैठ गई है। उसकी स्त्री अभी-अभी मरी थी। उसने इसे अच्छा भोजन और नए वस्त्र दिये। इसने उसकी भूख को शान्त किया। रघुबर के बहुत से दुर्गुणों में चरस को मुनिया ने अपनाया और मुनिया के अवगुणों में गन्दगी को रघुबर ने अंगीकार किया। इस दम्पति का सम्बन्ध बहुत बड़े सुदृढ़ स्वार्थ पर अवलम्बित था। मुनिया का रघुबर में स्वार्थ पहिले तो भोजनों और वस्त्रों का था और फिर चरस के पैसों का रह गया। रघुबर का स्वार्थ मुनिया से पहिले उतना ही था जितना कि एक बलीवर्द का स्वार्थ उस भग्न दीवार से होता है जिसके संघर्ष से वह अपनी

खुजली मिटाता है। आगे चलकर वह स्वार्थ घिस कर केवल इस अभिमान से हिलग गया कि अधीन की लड़की को उसने रखा है। अन्त तक मुनिया उसके सिर का बोझ हो गई और वह उससे छुटकारा पाने का ही अधिक इच्छुक था।

'मुनिया चरस पीते-पीते पीली पड़ गई। सूखकर काँटा हो गई। उसे दम आने लगी। इसी से उसका नाम सकही और झुरही पड़ गया। वह इस नाम से तनिक भी क्रुद्ध न होती थी। रघुबर के घर में टाट की कोठरी के भीतर वह कभी कुंकुम का बिन्दु लगाना न भूली। वह नहाती न थी पर फूटे शीशे को हाथ में लेकर सेन्दुर अवश्य लगा लेती थी। एक दिन लड़कर वह कानपुर से भाग आई। उस बार जब मैं लखनऊ आया था तो उसने मुझे पालागन किया था। अबकी बार वह नितान्त विक्षिप्त हो गई है। मुझे पहचानती नहीं। अब भी वह सेन्दुर का टीका फूटे शीशे के सहारे लगाना नहीं भूली है।'

मुनिया की कथा सुनकर राजाराम ने एक आह भरी और कहा—'उसे इस फूटे शीशे से कदाचित् इसलिए स्नेह है कि विनोद ने अपने हाथ से उसके सेन्दुर-बिन्दु लगाया था।'

'मेरा भी यही ख़याल है।'—मैंने उत्तर दिया।

'भाई ; झुरही को देखना चाहिये।'

'अवश्य, कल चलूँगा। मुझे तो सकही की गाथा बहुत दर्द-भरी प्रतीत होती है।'

'मुझसे तो आज खाया न जायगा।' कुछ देर तक दोनों चुप हो रहे। निश्चय हुआ कि कल हम लोग सक़ही को देखने प्रातःकाल ही जायँगे।

रात्रि को मुझे कई बार स्वप्न में पगली झुरही के दर्शन हुए। वह फूटे शीशे को सामने रखकर कुंकुम बिंदु लगा रही थी। राजाराम ने भी इसी प्रकार का स्वप्न देखा। प्रातःकाल सकही के दर्शनों का उतावलापन हम लोगों को व्यग्र करने लगा। हम लोग शीघ्र ही लैलामंजिल पहुँचे।

मंजिल के थोड़ी दूर पर एक भीड़ दिखाई दी। बड़ा समारोह था। हम लोग ताँगे से उतरकर सीधे लैलामंजिल की टूटी कोठरी में प्रवेश करने लगे जिसमें झुरही रहती थी ; आज सारा मंजिल सूना था। एक कोने में अन्धा और लूला भिक्षुक पड़ा था। उससे ज्ञात हुआ कि एक भिखारिन मोटर से दब गई है वहीं सब भिक्षुक भागकर गये हैं। हम लोग आशंका से सिहर उठे। वेग से पैर उठाते हुए जनसंकुलता को चीरकर आगे बढ़े। एक स्त्री रक्त से लथपथ पड़ी थी। सिर फट गया था। पसलियाँ पिस गई थीं। हाथ छाती पर रखा था। वह सेंदूर की डिब्बी को ज़ोर से पकड़े था। फूटा शीशा उसी के भीतर था।

'यही झुरही है ?'—राजाराम ने पूछा। मुझसे कोई उत्तर देते न बना ; एक आह निकलकर वायु में मिल गई।